जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 1 • जनवरी, 2002

8536

With best compliments from :

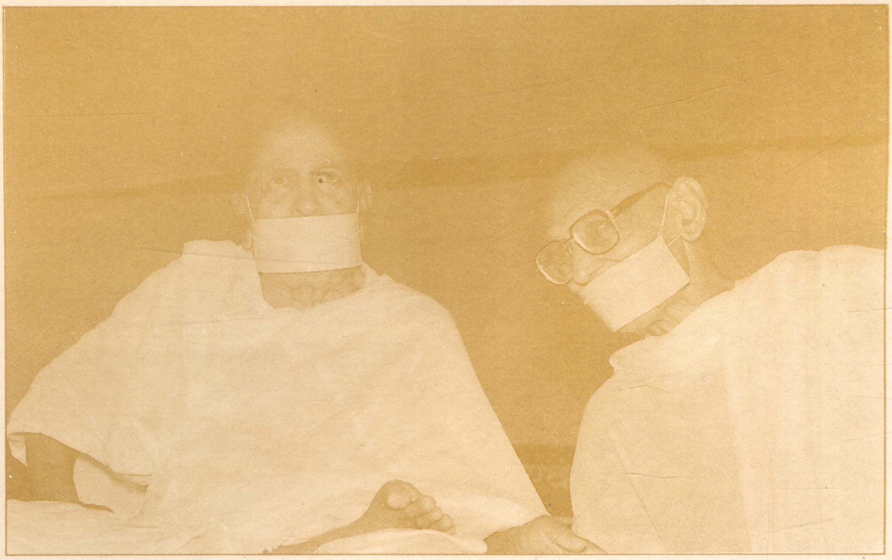

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust

W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust

11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

जनवरी, 2002 • वर्ष 50 • **स्वर्ण जयंती वर्ष** • अंक 1 • रु. 15.00

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
काय-सिद्धि से आत्मानुशासन

15
यशदेव शल्य
दर्शन और उन्मीलन

18
डा. राजानन्द
अध्यात्म का व्याकरण

अनुभूति

23
आचार्यश्री तुलसी
मिथुनविरति ब्रह्मचर्यम्

28
दयालचन्द्र सोनी
तीर्थ का अर्थ

31
डा. बच्छराज दूगड़
लोकतंत्र : स्वतंत्रता और गरिमा

34
कहानी
अज्ञेय
अलिखित कहानी

40
कविता
ओक्ताविओ पाज़ की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
संपिक्खए अप्पग मप्पएणं

शीलन

43
मुनि विनोदकुमार 'विवेक'
वंदणएणं नीया गोयं कम्मं खवेई

46
साध्वी श्रुतयशा
नेतृत्व क्षमता के सूत्र

49
बालकथा
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
काबुलीवाला

55
जैन भारती पाठक पहेली

•
आवरण
खेराज

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

धर्म ऋत और सत्य का एकीकरण है। वेदों में ऋत और सत्य दो अवधारणाएं एक-दूसरे के पूरक रूप में और फिर समन्वित रूप में वर्णित मिलती हैं। ऋत का अर्थ है गति, सत्य का अर्थ है सत्ता बने रहना। गति ऐसी न हो जो स्वरूप की पहचान नष्ट कर दे, बने रहने का अर्थ यह न हो कि टिक जाए, ठहर जाए, अपने लिए ही रह जाए। दोनों को साधे रहना और ऐसे साधे रहना कि कोई आयास न मालूम हो, धर्म है। मध्ययुगीन पश्चिमी चिंतन में वही प्रथम सिद्धांत है, तसव्वुफ में वही बेखुदी की खुदी है। भक्त कवियों की भाषा में वही महाभाव के लिए चिरंतन उद्वेलन है, विराट् से एकाकार होकर लघु के लिए विकलताओं में अवतरण है, राधा का कृष्ण के साथ तन्मय होकर राधा के लिए बेचैनी है और राधामन से कृष्ण के लिए। हर बेचैनी तन्मयता लाती है, हर तन्मयता बेचैनी और यही जीवन का न चुकने वाला रस है, अव्यय रस है।

यह धर्म मानव मात्र का है। ऐसे धर्म से निरपेक्ष होने की बात सोची भी नहीं जा सकती। इस धर्म की प्रतीति अलग-अलग रूपों में अलग-अलग परिस्थितियों में होती है पर वे अलग-अलग रूप वैसे ही हैं जैसे धूप ओस पर पड़ती है तो अलग दिखती है, नदी पर पड़ती है तो अलग, कांच पर पड़ती है तो अलग और फूल के ऊपर पड़ती है तो अलग। अलग-अलग दिखने पर भी पतिधर्म, पुत्रधर्म, पितृधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म आदि-आदि ये सभी धर्म एक हैं क्योंकि सभी सामंजस्य स्थापित करने के अलग-अलग रिश्तों के संदर्भ में प्रयत्न हैं।

—पं. विद्यानिवास मिश्र

मैं असंयमी जीवों को सांसारिक सहयोग देने का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता हूं। यह तर्क हो सकता है कि सेठ ने निन्यानवे व्यक्तियों के विरुद्ध चोर की सहायता नहीं की, केवल चोर को जीवित रखने के लिए प्रयत्न किया। इसी तर्क का अंश इस संवाद में मिलता है कि अमरीका भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को सहयोग नहीं दे रहा है। चोर निन्यानवे व्यक्तियों की हत्या कर सकता है, पाकिस्तान उस सैनिक सहायता का प्रयोग भारत के विरुद्ध भी कर सकता है।

जिस प्रकार इन सहयोगों से हत्या और आक्रमण की कड़ी जुड़ी है, उसी प्रकार असंयमी को सहयोग देने के साथ भी सूक्ष्म हिंसा का मनोभाव जुड़ा हुआ है। इसलिए परिणाम की दृष्टि से चोर का सहयोग करने के कार्य को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार राजनीतिक दूरदर्शिता की दृष्टि से सैनिक सहयोग का समर्थन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आत्मिक दृष्टि से असंयम को दिए जाने वाले सांसारिक सहयोग को धार्मिक उच्चता नहीं दी जा सकती।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

आजकल कुछ व्यक्ति विश्वव्यवस्था, विश्वधर्म, विश्वहित, विश्वविकास और वैश्विक चिंतन की बात करते हैं। कुछ व्यक्ति पूरी तरह से आत्मकेंद्रित होते हैं। वे विश्व के बारे में क्या अपने देश, समाज, गांव, पड़ोस या परिवार की दृष्टि से भी कुछ सोचने या करने के लिए तैयार नहीं हैं। मेरा चिंतन यह है कि मनुष्य की दृष्टि अनेकांत-प्रधान होनी चाहिए। विश्व और व्यक्ति के बारे में विचार किया जाए तो इन दोनों को सापेक्ष मानकर ही सोचना जरूरी है। व्यक्ति को भुलाकर विश्व को नहीं बनाया जा सकता और विश्व के बिना व्यक्ति की अस्मिता को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। मकान के निर्माण में ईंटों का उपयोग होता है, पर केवल ईंटें क्या करेंगी? ईंटों के साथ अन्य सामग्री की भी अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों के समुचित विकास से ही सर्वांगीण विकास संभव है।

व्यक्ति विश्व में सन्निहित है। वह अकेला रह नहीं सकता, अकेला जी नहीं सकता। ऐसी स्थिति में चिंतन की यात्रा व्यक्ति से शुरू होकर विश्व तक पहुंचे, यह सही क्रम है।

—आचार्यश्री तुलसी

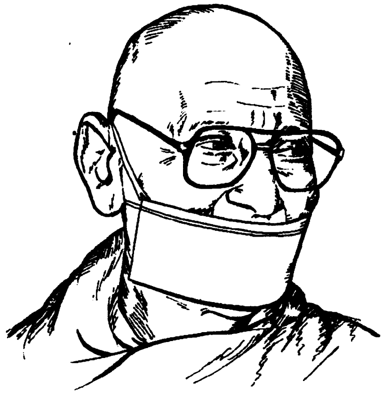

'नैतिक मूल्यों का संकट है'—यह स्वर यत्र-तत्र-सर्वत्र सुनाई दे रहा है। वह क्यों है? इस पर गंभीर चिंतन नहीं होता। प्रश्न है—गंभीर चिंतन कौन करे? सत्ता के सिंहासन पर बैठे लोग अगले चुनाव में अपने दल को विजयी बनाने की चिंताएं करते हैं। बड़े उद्योगपति और बड़े व्यवसाई राजनीति पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की चिंता में व्यस्त हैं। बड़े-बड़े साधु-संन्यासी अपने आश्रम और पीठों की ओर जनता को आकृष्ट करने की चिंता में व्यस्त हैं। नैतिक मूल्यों के विकास की चिंता कौन करे और क्यों करे? बीसवीं शताब्दी में कुछ नाम अंगुलियों पर आए—राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे, आचार्य तुलसी आदि। नैतिक मूल्यों के विकास में इनका महत्त्वपूर्ण अवदान है। किंतु वर्तमान अतीत नहीं बनता। आज अपेक्षा है उस व्यक्तित्व की जो जातिवाद—सांप्रदायिक कट्टरतावाद की भूमि से ऊपर उठा हुआ हो। समस्या को सुलझाने के लिए यह मानदंड मेरी दृष्टि में पर्याप्त नहीं है। दो बातें और अपेक्षित हैं—सतत समर्पण और गंभीर चिंतन। मैं इस बात को फिर दोहराना चाहता हूं—नैतिक मूल्यों की समस्या पर गंभीर चिंतन होना चाहिए। गंभीर चिंतन से मेरा तात्पर्य है—समस्या के उपादान अथवा मूल कारण पर चिंतन होना चाहिए। हमारा चिंतन गौण कारण पर अधिक चलता है। इससे समस्या सुलझती नहीं।

हमारा चिंतन गौण कारण अथवा सतही स्तर पर कैसे होता है, इसे स्पष्ट करना जरूरी है। हर आदमी का लक्ष्य बना हुआ है—अधिकतम उपभोग, अधिकतम सुविधा और अधिकतम धन। इस लक्ष्य के गर्भ में नैतिक मूल्यों की समस्या छिपी हुई है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

संपिक्खए अप्पग मप्पएणं

'...अब तो स्वयं को स्वयं के द्वारा देखना जरूरी है,...तभी मानसिक समस्याएं शांत हो सकेंगी...।'

यह कथन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का है जो ध्यान-प्रेक्षाध्यान के जरिए न केवल मानसिक परेशानियों के कम होने की बात कहते हैं, यह भी कहते हैं कि 'आत्मानुशासन' के लिए भी 'ध्यान' जरूरी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहीं कहते हैं—'आदमी के पास देखने के लिए दो आंखें हैं, पर आश्चर्य की बात है कि वे आंखें औरों को देखती हैं, स्वयं को नहीं।' यदि इस बात के मर्म को समझ लिया जाए तो कई सारी समस्याएं स्वतः निर्मूल हो सकती हैं। मनुष्य की आंखें औरों को देखते हुए स्वयं से गाफिल रहती हैं। स्वयं को न देखने की बात का सीधा-सा अर्थ इतना ही है कि मनुष्य और मनुष्य के मध्य मनुष्य ही विभेद करता है। जिन विषमताओं और विसंगतियों से आज का समाज घिरा हुआ है वह मनुष्य और मनुष्य के बीच उत्पन्न विभेद का ही फल है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इसी प्रसंग में बड़े सरल शब्दों में अपना मत स्पष्ट करते हैं—'हम बड़ों को देखते हैं तो हमारे भीतर हीन भावना जागती है। हम छोटों को देखते हैं तो बड़प्पन, अहंभाव पनपता है। किसी को देखते हैं तो राग, किसी को देखते हैं तो द्वेष, कभी आवेग, संवेग, उत्तेजना उभरती है तो कभी दूसरों को देखने से क्रोध, घृणा, भय जागते हैं। दूसरों को देखते-देखते आदमी मानसिक तनावों से इतना घिर जाता है कि आत्म-हत्या भी कर बैठता है, तलाक देने की नौबत आ जाती है। किंतु जो अपने-आपको देखने लगता है, उसमें साहस की ताकत आ जाती है। सचमुच! दूसरों को देखते-देखते हम थक गए हैं। अब तो स्वयं को स्वयं के द्वारा देखना जरूरी है। प्रेक्षा करना जरूरी है—तभी मानसिक समस्याएं शांत हो सकेंगी।'

इस नए वर्ष का शुभारंभ क्या इस रूप से हो सकता है? कुछ प्रसंग यादगार क्षण बन जाते हैं जो भुलाए नहीं जा सकते और उनसे एक ताजगी, ऊर्जा मिलती रहती है—नया सवेरा यही तो कहलाता है। यूं तो सूर्योदय सदा नूतन ही होता है, पर इसका अहसास कैसे और कब हो, यह देखा जाना जरूरी है। यह अहसास तभी संभव है जब 'स्वयं को स्वयं के द्वारा देखना' शुरू किया जाए। ईसवी सन् 2002 के इस शुभारंभ पर हम एक नूतन अहसास की शुरुआत करें—'स्वयं को स्वयं के द्वारा देखें।' बीते वर्ष की घटनाएं भी हमें यही कह रही हैं, उनसे सबक लेना और अपना परिमार्जन करना इस नए वर्ष का अभीष्ट होना चाहिए।

हमने देखा है कि 'संस्थागत हिंसा' ने मनुष्यता को ग्रहण लगा डाला है, वह तिरोहित हो रही है। 'संस्थागत हिंसा' के स्वरूपों को पहचानने की आज सबसे अधिक जरूरत है। पहचानने से तात्पर्य है उसकी जड़ों को देखना और हो रहे

अभिसिंचन की धारा को ध्वस्त करना। इस हिंसा के अभिसिंचन के स्रोत कहीं बाहर नहीं—हम में ही हैं, हमारे भीतर। इस धारा को बदलने के उपाय इतने दुरूह नहीं हैं, जितना कि इसके लिए किया जाने वाला संकल्प। इस नए वर्ष पर हर मनुष्य के लिए यह संकल्प जरूरी है। मनुष्यता को बचाने के लिए दूसरा कोई उपाय कारगर नहीं हो सकता। यह सर्वविदित है, तब भी उस ओर अग्रसर न होना मूढ़ता ही कहा जा सकता है। इस मूढ़ता से मुक्त होना है। विकल्प मौजूद है, अमल में लाने की जरूरत है। बुनियादी तौर पर हर वर्ग अहिंसा, समता-समानता और सौहार्दता की बात ही करता है, इनसे विमुख होकर सामाजिक ढांचा टिका भी नहीं रह सकता। आज भी समाज का बड़ा हिस्सा इन्हीं बातों में विश्वास करता है, पर छोटे और क्षुद्र स्वार्थों, अपेक्षाओं और प्रलोभनों में फंसते रहने से यह ढांचा चरमराने लगा है। इसी में से संगठित हिंसा का जन्म होता है जो धीरे-धीरे छद्म ताकत पाकर मनुष्यता को लीलने लगती है। आतंकवाद का जन्म इसी के गर्भ से होता है। जाहिर है आतंकवाद को समाप्त करना है तो उसके प्रकट स्वरूप को कुचलने से नहीं, गर्भ-नाल को समाप्त करने से ही आतंकवाद समाप्त हो सकता है। यह कार्य 'राष्ट्र राज्य सत्ता' से कभी नहीं हो सकता। आतंकवाद पर हमला करते हुए हम यह देख सकते हैं कि मुखौटे में स्वयं 'राष्ट्र राज्य सत्ता' ही आतंक पैदा करती-सी प्रतीत होती है।

तब संगठित हिंसा से पैदा होने वाले आतंकवाद को जड़हीन करने का उपाय समाज में ही निहित है। समाज की सज्जन शक्ति को जगाने के लिए और राष्ट्र राज्य सत्ता पर दबाव स्थापित करने के लिए रचनात्मक अहिंसक संघर्ष की तैयारी करनी होगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से अभिप्रेत **'अहिंसा यात्रा'** इस दिशा में उठा एक कदम सिद्ध हो सके तो 'संगठित और संस्थागत हिंसा' पर नियंत्रण पाया जा सकता है। यह अच्छी बात है कि स्वयं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस यात्रा को लेकर किसी खुशफहमी में नहीं हैं। जमीनी सचाई की अनदेखी न करते हुए व्यावहारिक स्तर पर वे ऐसे सरल उपाय समाज को बता रहे हैं जो सीधे-सीधे आतंकवाद से टकराते हुए भले नहीं नजर आते, पर उसकी जड़ों को कुतर डालने की क्षमता पैदा कर सकते हैं। जो छोटे-छोटे सूत्र वे गांव-गांव और घर-घर पहुंचा रहे हैं, प्रकारांतर से उनका प्रभाव संगठित या संस्थागत हिंसा के बंध ढीले करने में ही होने वाला है। ये छोटे-छोटे सूत्र 'अहिंसक समाज संरचना' के सूत्र हैं, जीवनमूल्यों के सरल सूत्र हैं, ये आत्मानुशासन सूत्र हैं। जैन भारती के इसी अंक में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का विशेष आलेख इस दिशा में मननीय है, विचारणीय है।

यह **'अहिंसा यात्रा'** स्वयं को स्वयं के द्वारा देखने की यात्रा कही जा सकती है। इस यात्रा के फलदाई परिणाम 'मनुष्यता' की महत्ता के लिए जरूरी हैं। इसीलिए मनुष्य-मनुष्य की प्रत्यक्ष-परोक्ष भागीदारी इस यात्रा में होनी ही चाहिए।

जैन भारती का यह **'स्वर्ण जयंती वर्ष'** है। पिछले उनपचास वर्ष के कार्यकाल में साप्ताहिक से मासिक पत्रिका तक पहुंचने की जैन भारती की यात्रा उत्साहवर्द्धक रही है। इसके प्रकाशन में किंचित् अवरोधों के बावजूद जैन भारती की पहचान कभी तिरोहित नहीं हो सकी। इस अवधि में जैन भारती के जो भी संपादक रहे हैं—इस समय उनका आदर व सम्मानपूर्वक स्मरण उत्साह व ऊर्जा का संचरण कर रहा है। जैन भारती के प्रकाशन में जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा का योगदान स्वाभाविक है, यही तो जैन भारती की प्रकाशक संस्था है। इस दीर्घकाल में महासभा के जो भी पदाधिकारी रहे हैं, उनके प्रति सहृदय साधुवाद जरूरी है। उनका निरंतर सहयोग ही जैन भारती के अनवरत प्रकाशन को सुनिश्चित कर सका। जैन भारती का पाठक वर्ग, उदारमना विज्ञापनदाता और अर्थ-सहयोगी ही जैन भारती के आधार स्तंभ रहे हैं—रहेंगे, उनके प्रति विनम्र सम्मान प्रकट करते हुए हमारा मन कृतज्ञता से सराबोर है। उनका संबल-सहकार उत्तरोत्तर हमें मिले, यह अपेक्षा है।

जैन भारती का वृहत्तर पठनीय स्वरूप अपने यशस्वी लेखक-समुदाय, सुधी विद्वज्जनों की सहभागिता से ही संभव हो सका है। आज जो स्वरूप आप देख रहे हैं उसका श्रेय अपने उदार लेखकों को ही है; मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूं। एक धर्म संघ की यह पत्रिका किस तरह **'नैतिक-आध्यात्मिक विमर्श'** की मासिकी बन सकी—यह लेखा-जोखा इस **'स्वर्ण जयंती वर्ष'** में किया जाना चाहिए। निश्चय ही श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंगल आशीर्वाद और प्रेरणा जैन भारती के वर्तमान स्वरूप के मूल में है, यह मेरा नहीं विद्वत् समाज का कथन है।

आप सबके अनवरत सहयोग की अभीप्सा के साथ आज मैं उन सबको प्रणाम करता हूं।

— शुभू पटवा

विमर्श

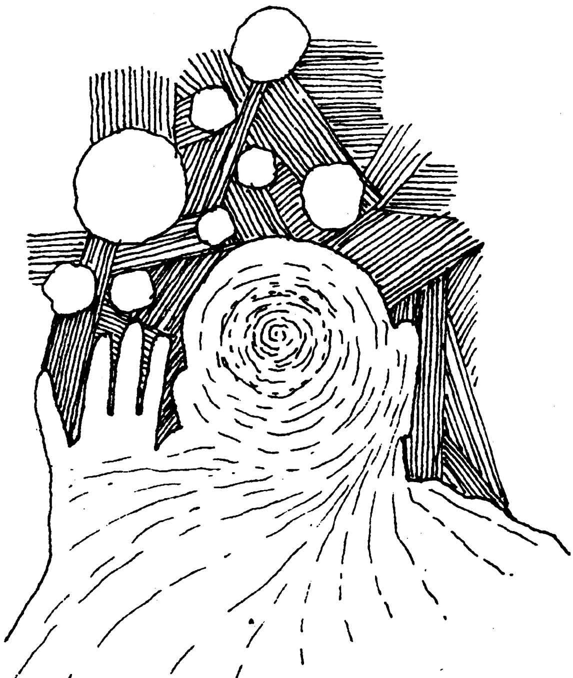

'व्यक्तियों की भांति ही राष्ट्रों के लिए भी परिपक्वता की कसौटी शक्तिवृद्धि में नहीं बल्कि आत्मबोध की, आत्मसंयम की, आत्मनिर्देशन की और आत्मोपरिता की वृद्धि में है क्योंकि एक परिपक्व समाज में स्वयं मनुष्य ही मुख्य कलाकृति है, न कि उसकी मशीनें और उसके संगठन।

हमारे युग की वास्तविक समस्या यह है कि जो कुटिल प्रवृत्तियां इतने दिनों से मनुष्य को उसके संपूर्णतम विकास से पथभ्रष्ट करती रही हैं, उनका पर्दाफाश करने के लिए मौजूदा पीढ़ी और मानवजाति के इतिहास, दोनों में मानव-आत्मा की गहराइयों को टटोला जाए। मानवजाति शक्ति के किसी एकपक्षीय प्रदर्शन द्वारा नहीं, बल्कि समस्त जीव-जगत के निरंतर पोषण और सहयोग द्वारा ही सर्वदा जीवित रही और फली-फूली है। शक्ति को हड़पना नहीं, बल्कि जीवन को बचाना और प्यार करना ही मनुष्य का मुख्य लक्ष्य है, और आज देव-सुलभ शक्तियां मानवजाति के वंश में होने से उसकी आत्मानुशासन की जिम्मेदारी और बढ़ गई है, और एक ऐसी तंत्रोत्तर, यंत्रोत्तर और परमाणूत्तर विचारधारा उसके लिए अनिवार्य हो गई है, जो शक्ति पर नहीं बल्कि जीवन पर केंद्रित हो।'

—लेविस ममफोर्ड

काय-सिद्धि से आत्मानुशासन

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

'....हम ऐसे चित्त का निर्माण करें जिससे समस्याओं का सामना करने में वह सक्षम हो सके। कभी भी समस्याओं से परेशान न हों।....'

'....इस प्रकार के चित्त के निर्माण के लिए आत्मानुशासन अपेक्षित है। आत्मानुशासन तब घटित होता है जब व्यक्ति में शरीर, श्वास, प्राण, वाणी और मन—इन पांचों पर अनुशासन करने की क्षमता विकसित होती है। इन सब अनुशासनों का घटक है 'ध्यान'। ध्यान के जरिए हम एक आत्मानुशासन को विकसित करने की दिशा में प्रस्थान कर सकते हैं।....'

अपने उपरोक्त कथन के साथ ही प्रस्तुत आलेख में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी 'ध्यान' और 'कायोत्सर्ग' विधि से आत्मानुशासन के विकास की संभावना प्रकट करते हैं, वहीं समस्याओं के समाधान खोजने और उनसे जूझने की क्षमता हासिल कर लेने की बात भी दृढ़तापूर्वक कहते हैं। व्यक्ति के नैतिक बने रहने की आज सबसे बड़ी समस्या है, दूसरी है सामयिक समस्याओं के यथोचित समाधान की। प्रस्तुत आलेख इन दोनों ही समस्याओं का कारगर समाधान प्रस्तुत करता है।

जैन भारती के 'स्वर्ण जयंती वर्ष' के प्रथम अंक में ही भारतीय मनीषा के शलाका पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह विशिष्ट आलेख अपने पाठकों के लिए—

अनुशासन और नियंत्रण बराबर चलते हैं, यद्यपि अनुशासन और नियंत्रण का एक अंतर होता है। कोई नियंत्रण बाहरी प्रभाव से आता है और कोई नियंत्रण भीतरी प्रभाव से आता है। बाहर से आने वाला नियंत्रण ऐसे नियंत्रण की श्रेणी में आता है जिसे परानुशासन कहा जा सकता है, यह आरोपित अनुशासन कहलाता है। जबकि भीतर से फूटने वाला नियंत्रण आत्मानुशासन की प्रक्रिया है। ध्यान और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मानुशासन का विकास हो सकता है, पर यदि ऐसा न हो तो ध्यान और कायोत्सर्ग भी एक तरह से नशे की गोली बन कर रह जाएगा। गोली ली, नशा आ गया, आराम का अनुभव हुआ। नशा उतरा, फिर वैसे का वैसा।

यह मानना चाहिए कि ध्यान या कायोत्सर्ग सामयिक उपचार नहीं हैं, ये दीर्घकालीन उपचार हैं। तीन काल हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्य। अतीत का हमारे ऊपर बहुत प्रभाव रहता आया है। हम स्वतंत्रता की बात कितनी ही करें और सोचें, पर अतीत के प्रभाव से मुक्त हो पाना कठिन है? पुराने जमे हुए संस्कार, वृत्तियां, संज्ञाएं पग-पग पर आदमी को विवश करती हैं, बाध्य करती हैं। आदमी अतीत की सांकल से बंधा हुआ दौड़ रहा है। सांकल से छूटा हुआ आदमी तो दौड़ सकता है, पर बड़ा आश्चर्य है कि सांकल से बंधा हुआ आदमी दौड़ रहा है। यह बड़ी विचित्र बात लगती है। एक संस्कृत कवि ने ठीक कहा है—

आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यशृंखला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति, मुक्ताः तिष्ठंति पंगुवत्।।

आशा नाम की एक अजीब सांकल है। बड़ी विचित्र सांकल है कि उससे बंधे हुए आदमी तो दौड़ते हैं और उससे छूटे हुए आदमी पंगु की तरह बैठे रह जाते हैं।

अतीत से बंधा हुआ आदमी बहुत चक्कर लगाता है। हमारे मन पर अतीत का बहुत प्रभाव है। मनोविज्ञान ने मन को तीन भागों में बांट दिया है—अवचेतन मन, अर्द्धचेतन मन और चेतन मन। आदमी चेतन मन के सहारे जो कार्य करता है, वे चेतन मन की अपनी घटनाएं नहीं होतीं—वे

प्रभावी घटनाएं होती हैं। यह प्रभाव बाहर से भी आता है और भीतर से भी आता है। अवचेतन मन में जमे हुए संस्कार, अवचेतन मन में जमी हुई प्रतिक्रियाएं, अवचेतन मन में जमे हुए प्रतिशोध के भाव जब-जब उभरते हैं तब-तब चेतन मन सक्रिय होता है और वैसा ही अभिनय करने लग जाता है। चेतन मन तो बेचारा अभिनय करने वाला है। भला अभिनय कराने वाले का क्या बदलेगा? यदि अभिनय का मूलस्रोत न बदले तो अभिनय करने वाले का क्या बदलेगा? आज किसी ने एक अभिनय कियां, कल दूसरा अभिनय करने लग जाएगा, परसों तीसरा अभिनय करने लग जाएगा। आज क्रोध का अभिनय किया, कल अहंकार का अभिनय करने लग जाएगा, परसों लालच का अभिनय करने लग जाएगा, कभी माया का अभिनय करने लग जाएगा, कभी भय का और कभी वासना का। ये अभिनय इस रंगमंच पर निरंतर चलते ही चलेंगे। कहां अंत होगा इनका? जब तक अवचेतन मन में, हमारे अज्ञात और सूक्ष्म मन में भरी हुई प्रेरणाएं नहीं मिट जातीं, नहीं धुल जातीं—तब तक अभिनय का अंत नहीं होगा। यह ध्यान का उपक्रम वर्तमान को मिटाने का उपक्रम नहीं है। यह अभिनय के मूलस्रोत को मिटाने का उपक्रम है। बगीचे में बोर्ड पर लिखा हुआ था—फूल तोड़ना मना है। एक लड़का गया और पौधा उखाड़ने लगा। माली ने कहा—क्या करते हो? पढ़ा नहीं तुमने, बोर्ड पर क्या लिखा है? उसने कहा—पढ़ लिया, तभी तो यह कर रहा हूं, वहां लिखा है—फूल तोड़ना मना है। तब भला मैं फूल तोड़ ही कैसे सकता था? पर पौधे तोड़ना मना है—यह कहां लिखा है? मैं तो पौधे उखाड़ रहा हूं, फूल कहां तोड़ रहा हूं? हम भी जब तक फूल तोड़ते जाएंगे, पत्तियां तोड़ते जाएंगे तो कभी भी अंत नहीं होगा। फल को सींचो, पत्तियों को सींचो—काम नहीं बनेगा। फल तोड़ो, पत्तियां तोड़ो—कभी काम नहीं बनेगा। सींचना होगा तो जड़ को ही सींचना होगा। ये ऊपर के उपचार, ये तात्कालिक और सामयिक उपचार बहुत उपयोगी नहीं हो सकते। ध्यान का विकास इसलिए हुआ कि आदमी सामयिक उपचार कब तक करेगा? आखिर कब अंत होगा इस शृंखला का? कोई अंत नहीं होगा। एक बात सुनी और अच्छी लगी—मन पर प्रभाव भी हुआ, पर कल वैसे के वैसे। कल की बात तो बहुत लंबी बात हो जाती है, दो घंटे के बाद ही वैसे के वैसे। क्योंकि वह सामयिक उपचार था, शाब्दिक उपचार था। उसे नशे की गोली भी कहा जा सकता है।

ध्यान भीतर तक पहुंचाने वाली प्रक्रिया है। वह अवचेतन मन को झंकृत करने वाली और उसका शोधन करने वाली प्रक्रिया है। उस पर जो मैल जमा हुआ है, जो दोष उस पर जमे हुए हैं, संस्कार की जो परतें गहरी जमी हुई हैं—उनको उखाड़ना और इतना उखाड़ देना कि पूरी धुलाई हो जाए। यह 'ब्रेनवाशिंग' जैसी प्रक्रिया नहीं है, वह भी ऊपर की ही प्रक्रिया है। मस्तिष्क की धुलाई भी ऊपर की बात ही है। हम तो पूरे ग्रंथि-तंत्र की धुलाई की बात कर रहे हैं, जहां से सारे व्यवहार और आचार की प्रेरणाएं मनुष्य को उपलब्ध हो रही हैं। ध्यान को न ऊपर की घटना समझें, न बाहर को छूने वाली घटना समझें और न सतही उपक्रम समझें। यह बहुत गहरे को छूने वाला उपक्रम है और इसीलिए ध्यान करने वाले व्यक्ति में कभी-कभी क्रोध भयंकर रूप से जाग जाता है, भयंकर वासना जाग जाती है, भयंकर विकार जाग जाते हैं। बहुत गहरे में ध्यान की अवस्था में उतरते हैं और जब भीतर की धुलाई शुरू होती है तो भला इतने दिन की जमी हुई वासनाएं भी सीधी हार कैसे मान लेंगी! वे भी तो अपना प्रतिरोध करेंगी, फुफकारेंगी और इतनी भयानक फुफकार करती हैं कि आदमी घबरा जाता है। उसी अवस्था में गुरु के मार्ग-दर्शन की जरूरत होती है। यह घबराने की बात नहीं, यह शुभ लक्षण है, शुभ संकेत है—इस बात का कि भीतर की पूरी सफाई हो रही है। इस सचाई को हम न भूलें कि एक कूड़े-करकट का ढेर है और वहां सफाई करनी है, तो जैसे-जैसे हम सफाई करेंगे—नीचे से दुर्गंध ही आएगी, बदबू आएगी। यह कभी नहीं होता कि हम पूरी सफाई करें और बदबू न आए। जो जमा हुआ है वह तो निकलेगा ही। उसका शोधन नहीं हुआ तो विकार भीतर ही भीतर रहकर अपनी प्रतिक्रिया करता रहेगा और आदमी को सदा बीमार बनाए रखेगा। स्वास्थ्य का लक्षण है—बीमारी की जड़ को उखाड़ देना। उखाड़ते समय बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः समझ लेना चाहिए कि ध्यान केवल बाहर से बदलने वाली बात नहीं है, इसमें अंतःस्पर्श होता है। भीतर से बदलने की प्रक्रिया शुरू होती है। इसलिए इसे न तो मादक-वस्तु कहा जा सकता है, न सामयिक उपचार कहा जा सकता है। यह दीर्घकालिक और जड़ को छूने वाला उपचार है। जब संस्कार समाप्त होते हैं तो फिर हमारे अभिनय भी कम होने लग जाते हैं। अभिनय तो सारा संस्कार के आधार पर चलता है। जब मूल संस्कार ही नहीं हैं तो आदमी नाना प्रकार के अभिनय कैसे करेगा?

प्रश्न होता है—ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन में एक सहज विकल्प उठता है कि हम ध्यान के अधिकारी कहां हैं? बर्तन तो गंदा है, अच्छा भोजन उसमें उपयोगी कैसे

बनेगा? कुछ डाल दिया जाएगा तो वह भोजन भी गंदा हो जाएगा। तर्क तो ठीक लगता है। बात ठीक लगती है कि गंदे बर्तन में डाला हुआ भोजन भी गंदा हो जाएगा। यदि इस तर्क के सहारे डरते रहें तो काम बनेगा ही नहीं। तो कैसे करें?

ध्यान ही एक ऐसी शक्ति है जो गंदगी को अच्छाई में बदल सकती है। जिसमें यह शक्ति न हो कि वह गंदगी को अच्छाई में बदल सके, उसके लिए तो तर्क ठीक है। भोजन में यह ताकत नहीं है कि भीतर पड़ी हुई गंदगी को वह अच्छाई में बदल सके, स्वयं अच्छा रह सके। ध्यान में यह ताकत है कि स्वयं पवित्र है और आस-पास के वातावरण को भी पवित्रता में बदल देता है। गंदगी छूट जाती है। ध्यान कहीं भी जाए, गंदे से गंदे हाथ में भी जाए तो हाथ पवित्र बन जाएंगे। पवित्र बनाने का दूसरा साधन ही क्या है? पानी कभी नहीं सोचता कि मैं गंदे हाथ में क्यों जाऊं? गंदे हाथ में जाऊंगा तो गंदा बन जाऊंगा। पानी यह बात सोचे तो गंदगी को मिटाने का उपाय ही समाप्त हो जाएगा। हमारे पास कोई उपाय नहीं है गंदगी मिटाने का। जहां गंदगी है, पानी जाता है और गंदगी को साफ कर देता है। उसके अतिरिक्त सफाई का हमारे पास साधन ही क्या है? पानी को यह भय नहीं होता कि मैं जाऊंगा और गंदगी साफ होगी या नहीं? ध्यान ऐसी ही निर्मल जलधारा है जो जहां प्रवाहित होती है—वहां सारी गंदगी समाप्त होती चली जाती है। निर्मलता आती चली जाती है—चित्त निर्मल, शरीर निर्मल, वाणी निर्मल, श्वास निर्मल—सब कुछ निर्मल होते चले जाते हैं। ध्यान की भूमिका में कोई गंदा नहीं है, उसके लिए सब पवित्र होते हैं। हमारी एक निष्ठा होनी चाहिए—गंदगी को मिटाने की क्षमता ध्यान में है। गंदगी को मिटाया जा सकता है और अभ्यास के द्वारा मिटाया जा सकता है। हमारी ऐसी त्रिआयामी और त्रिसूत्री आस्था होनी चाहिए। ये तीन सूत्र हैं—

1. क्षमता, 2. समाप्त किया जा सकता है या विकास किया जा सकता है, 3. समाप्ति और विकास अभ्यास के द्वारा किए जा सकते हैं।

ये तीन सूत्र हैं। इन पर आस्था जमे तो आत्मानुशासन भी दुर्लभ नहीं है। आत्मानुशासन तभी प्रकट होगा जब भीतर जमे हुए संस्कार उखड़ेंगे। उन संस्कारों को उखाड़ने की हमारी क्षमता है, तब आत्मानुशासन को विकसित करने की क्षमता भी हमारे भीतर विद्यमान है। वह असंभव या अशक्य अनुष्ठान नहीं है, इसे अभ्यास के द्वारा किया जा सकता है। अभ्यास के लिए हमें मार्ग खोजना होगा। उसके सूत्र उपलब्ध करने होंगे। उसके सूत्र हैं—संयम और तपस्या। एक आरोपित नियंत्रण होता है, जो बंधन और वध के द्वारा किया जाता है। दंड का नियंत्रण, दंड का अनुशासन। उसके भी दो सूत्र हैं—बंधन और वध। या तो बांधा जाएगा, पीटा जाएगा या मारा जाएगा। इसके सिवाय उसके पास कोई शक्ति नहीं है। दंड के पास दो शक्तियां हैं। किसी आदमी को बांध दो, पीटो, मार डालो। जब तक बंधन और वध की बात रहती है, तब तक आत्मानुशासन का विकास नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति में आत्मानुशासन का विकास हो जाता है, वह बंधन और वध—दोनों भयों से मुक्त होकर सर्वतो अभय हो जाता है।

एक उदाहरण देखिए—

सम्राट सिकंदर ने एक दिगंबर मुनि से कहा—'तुम मेरे राज्य में चलो।' उसने कहा—'नहीं चलूंगा।' सिकंदर देखता रह गया। सिकंदर की बात को टालने की क्षमता बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं में नहीं। उसका तो संकेत ही सबको प्रकंपित कर देता था। उस स्थिति में एक अकिंचन साधु कह रहा है कि—मैं नहीं जाऊंगा। सिकंदर बोला—'साधु! तुम नहीं जानते मैं कौन हूं? सम्राट सिकंदर हूं। तुम्हें नहीं पता कि मेरे आदेश के अतिक्रमण का क्या परिणाम होता है? जानते हो?' साधु ने कहा—'जानता हूं, फिर भी बता दो क्या परिणाम होता है?' सिकंदर ने कहा—'यह है तलवार। परिणाम यह होगा कि तुम मारे जाओगे।' साधु ने कहा—'किसको डराते हो? यह मौत का भय तो कभी समाप्त हो गया। मौत में मुझे मारने की क्षमता नहीं है—

'मौत से मरता नहीं मैं, मौत मुझसे मर चुकी है।'

'...किसको डराते हो तुम? मौत तो बेचारी मुझसे डरती है और तुम मुझे मौत से डराते हो?' साधु की बात सुन सिकंदर के हाथ से तलवार छूट गई। बोला—'मेरे पास जो अंतिम साधन था मृत्यु के भय का, उसे तो वह स्वीकार ही नहीं कर रहा है, डर ही नहीं रहा है। भला, नहीं डरने वाले को कैसे डराया जाए?' दुनिया बड़ी अजीब है कि डरने वाले को ही डराते हैं। जो नहीं डरता उसे डराने की ताकत किसी सत्ता में नहीं है, किसी शक्ति में नहीं है। दुनिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो अभय को डरा सके। सब डरने वाले को डराते हैं। जो डरते हैं उन्हें पुलिस भी डराती है, दूसरा आदमी भी डराता है। और तो और चूहा भी डरा देता है। वह भी डरने वाले को बहुत डराता है। थोड़ा-सा खटका होता है कि नींद हराम हो जाती है, बड़ी अजीब स्थिति होती

है। पर सब डराते हैं डरने वाले को ही। जो अभय बन गया, भयमुक्त बन गया, उसे डराने की किसी में भी ताकत नहीं होती। सिकंदर परेशान हो गया और बोला—'अच्छा, अभिवादन महाराज! अब मैं जा रहा हूं।'

जिस व्यक्ति को बंधन और वध का भय नहीं होता वह कभी भी बाहरी नियंत्रण से नियंत्रित नहीं होता। लोग कहते हैं कि नियंत्रण पर नियंत्रण आ रहे हैं। कानून पर कानून—इतने कानून कि कानूनों का अंबार लग गया। आदमी को पता ही नहीं लग पाता कि क्या-क्या कानून हैं। कानून का अतिक्रमण हो जाए तो न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता है। कोई कहे कि—मुझे इस बात का पता ही नहीं था, पर न्यायालय यह मानेगा नहीं कि पता था कि नहीं था। कानून बनाने वाले बनाते चले जाते हैं और पकड़ने वाले पकड़ते चले जाते हैं। यह ऐसा क्यों हो रहा है? डर के कारण हो रहा है। भय के कारण हो रहा है। यह भय ही पकड़ा रहा है। जंगल में जब शेर की दहाड़ होती है तो बेचारे हरिण व अन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, स्तब्ध हो जाते हैं, चलने की शक्ति कम हो जाती है। अगर वे दौड़ते जाएं तो सिंह कैसे पकड़ेगा उनको? पर इतने भयभीत हो जाते हैं कि सिंह को दौड़ने की जरूरत ही नहीं रहती, अपने आप ही वे पशु उसके मुंह में आ जाते हैं। समूचे समाज में व्याप्त भय से ही ऐसे नियंत्रण जटिल से जटिल बनते जा रहे हैं। इसका एक ही समाधान है—आत्मानुशासन का विकास। हमारे भीतर से अनुशासन जागे। अनुशासन जागने का अर्थ है कि वहां वध नहीं है, बंधन नहीं है। वहां दो प्रेरणाएं काम कर रही हैं। एक संयम की प्रेरणा और दूसरी तपस्या की प्रेरणा। ये दो प्रेरणाएं प्रेरित करती हैं और आत्मानुशासन प्रकट हो जाता है। शरीर का अनुशासन, श्वास का अनुशासन, प्राण का अनुशासन, वाणी का अनुशासन और मन का अनुशासन—ये पांच अनुशासन इकट्ठे होते हैं तो फिर एक अनुशासन बनता है—आत्मानुशासन। आत्मानुशासन के ये पांच स्तंभ हैं, पांच आधार हैं, इन पांच अनुशासनों को पाए बिना कोई भी व्यक्ति आत्मानुशासन को उपलब्ध नहीं हो सकता।

आत्मानुशासी व्यक्ति के लिए, आत्मानुशासन चाहने वाले व्यक्ति के लिए सबसे पहले शरीर को अनुशासित करना जरूरी होता है। वह होता है—संयम के द्वारा, तपस्या के द्वारा। उसे काय-सिद्धि करनी होती है, काया को साधना होता है। हाथ का संयम, पैर का संयम—ये दो बड़े संयम हैं शरीर के। पैर उसी दिशा में उठता है जिस दिशा में हम जाना चाहते हैं। विपरीत दिशा में एक चरण भी आगे नहीं बढ़ेगा। हाथ उठेगा उसी दिशा में जिस दिशा में हाथ को आगे बढ़ाना है। गलत दिशा में हाथ आगे नहीं बढ़ेगा।

हाथ का संयम, पैर का संयम, खड़े रहने का अभ्यास, बैठने का अभ्यास। बड़ा कठिन है खड़ा रहना, बड़ा कठिन है बैठना। बैठने का अभ्यास क्या सरल है? बड़ा कठिन है। ध्यान करते समय एक घंटा, पौन घंटा एक आसन में बैठना होता है। किसी का पैर सो जाता है, किसी का हाथ सो जाता है, किसी का शरीर सो जाता है। बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है। और जब बदलने लगते हैं तो कभी एक पैर बदलो, कभी दूसरा, और बदलते-बदलते आस-पास के भाव बदलने लग जाते हैं। बड़ा कठिन होता है शरीर का अनुशासन। शरीर पर अनुशासन करने वाला व्यक्ति तीन घंटे तक एकासन में बैठ सकता है, तीन दिन और तीन महीने और तीन वर्ष बैठ सकता है। शरीर पर अनुशासन करने वाला व्यक्ति तीन घंटे खड़ा रह सकता है, तीन दिन, तीन महीने और तीन वर्ष तक खड़ा रह सकता है।

कर्नाटक में बाहुबलि की प्रतिमा है। बाहुबलि खड़े हैं—कायोत्सर्ग की मुद्रा में। कब से खड़े हैं? प्रतिमा के रूप में तो एक हजार वर्ष से खड़े हैं, किंतु साधना काल में भी वे एक वर्ष तक खड़े रहे। मुनि बन गए और कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हो गए। खड़े रहे, खड़े रहे। दिन बीते, महीने बीते, पूरा वर्ष बीत गया। पूरे वर्ष तक अविचल मुद्रा में खड़े रहे। कितना कठिन है शरीर का यह अनुशासन! एक घंटा भी यदि खड़े रहना हो तो बैठते समय शिकायत होती है कि पैर सो गया और खड़े रहते शिकायत रहेगी कि पैर थंभा बन गया। सारा रक्त नीचे उतर गया और पैर में चलने की क्षमता ही नहीं रही। किंतु मनुष्य के भीतर कितनी क्षमता है, उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। मानवीय क्षमताओं के बारे में हमारी कल्पना ही नहीं होती। इतनी अज्ञात क्षमताएं हमारे मस्तिष्क में भरी पड़ी हैं कि मस्तिष्क का नब्बे प्रतिशत भाग तो काम ही नहीं आ रहा है। यह क्षमता का भंडार पड़ा का पड़ा रह जाता है। शेष बचे दस प्रतिशत को काम लेने वाले भी कितने हैं? सामान्य आदमी तो दो-चार या पांच प्रतिशत को ही काम में ले पाता है। सात प्रतिशत को काम में लेने वाला एक अच्छा आदमी, भाग्यशाली आदमी बन जाता है और दस प्रतिशत को काम में लेने वाला तो महान आदमी, बड़ा आदमी बन जाता है। इस प्रकार नब्बे प्रतिशत शक्तियां तो सोई-की-सोई पड़ी हैं। उन शक्तियों को जगा सकें, उन शक्तियों को प्रकट कर सकें, उस महास्रोत को खोल सकें तब कोई काम बनता है और तब यह अनुशासन प्रकट होता है। उस अनुशासन को,

उन शक्तियों को जगाने की प्रक्रिया ध्यान के सिवाय आज तक कोई नहीं। उस महान अज्ञात स्रोत को उपलब्ध करने का, उस अनंतकाल से बंद दरवाजे को खोलने के लिए कोई चाबी बन सकता है तो वह 'ध्यान' बन सकता है। शरीर का अनुशासन बहुत कठिन होता है तो श्वास का अनुशासन और भी कठिन है।

श्वास का संयम बड़ा कठिन है। जो लोग श्वास शुरू करते हैं वे श्वास को ठीक लेना सीखते हैं। सम्यक् श्वास का मतलब होता है—भलीभांति श्वास को लेना और भलीभांति छोड़ना और धीमे-धीमे उसे रोकने व संयम का अभ्यास करना—श्वास का संयम होता है, श्वास का अनुशासन होता है।

प्राण का अनुशासन उससे भी कठिन है। श्वास का पता तो चलता है कि आ रहा है। यह जीवन का लक्षण है। श्वास चलता है तो आदमी जिंदा है, श्वास नहीं आएगा तो आदमी कैसे जीएगा? किंतु प्राण तो और भी सूक्ष्म बन गया, उसका पता ही नहीं चलता, पकड़ में भी नहीं आता। जब प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास में कहा जाता है कि प्राण के प्रकंपनों को पकड़ें, प्राण के प्रवाह का अनुभव करें, प्राण के स्पंदनों का अनुभव करें तो लोग कहते हैं— कहां हो रहा है, यह तो भूल-भुलैया है, कुछ पता ही नहीं चलता। अरे! कैसे चलेगा? स्थूल जगत में जी रहे हैं, सूक्ष्म जगत की बात कर रहे हैं, कैसे पता चलेगा? सूक्ष्म को पकड़ने के लिए चित्त को भी सूक्ष्म होना होगा। जब तक चित्त सूक्ष्म नहीं होगा तो सूक्ष्म का पता ही नहीं चल सकेगा।

जब प्राण के अनुशासन की क्षमता जाग जाती है तो एक हाथ के तापमान को बढ़ाया जा सकता है, दूसरे हाथ के तापमान को घटाया जा सकता है। दाएं भाग के तापमान को बढ़ाया जा सकता है और बाएं भाग के तापमान को घटाया जा सकता है। उलटा भी किया जा सकता है। चाहे जिस अवयव को स्तब्ध किया जा सकता है और चाहे जिस अवयव को अधिक सक्रिय किया जा सकता है। कला का विकास, शिल्पकर्म का विकास—ये सारे प्राण-शक्ति के चमत्कार हैं। प्राणशक्ति का चमत्कार है कि आंख के देखने मात्र से आदमी को वहीं का वहीं खड़ा रखा जा सकता है। आदमी को सुलाया जा सकता है और आदमी को जगाया जा सकता है। ये सम्मोहन की सारी क्रियाएं प्राण-शक्ति के चमत्कार हैं। लोहे की सांकल को तोड़ा जा सकता है। ये सारे प्राण के चमत्कार हैं। प्राण पर अनुशासन होने का मतलब है स्वतःचालित नाड़ी पर हमारा नियंत्रण हो जाता है।

वाणी का अनुशासन यानी वचन पर हमारा अनुशासन। बहुत कठिन होता है वाणी पर अनुशासन करना। मौन का दिन है—मुंह से नहीं बोलेंगे। स्मृति आती है—क्या यह वाणी नहीं है? स्मृति भी वाणी है, अबोली भाषा है। भाषा के बिना स्मृति कैसे आएगी? कोई भी स्मृति शब्दातीत नहीं होती। चिंतन आता है, वह भी वाणी है। चिंतन भाषातीत नहीं है। शब्दों के बिना चिंतन नहीं होता, चिंतन भी एक वाणी है। कल्पना होती है, कल्पना कहां से आई? आकाश से टपक गई क्या? भाषा के माध्यम से ही तो होगी। आप बोल नहीं रहे हैं, मन में कल्पना का चक्र चल रहा है। बोल ही तो रहे हैं। यानी बहिर्जल्प नहीं हो रहा है, अंतर्जल्प हो रहा है। तर्क-शास्त्र में दो प्रकार के जल्प होते हैं—अंतर्जल्प और बहिर्जल्प। आपका बहिर्जल्प नहीं है, किंतु अंतर्जल्प तो चल रहा है। आप सपना ले रहे हैं। क्या हो रहा है? बोल रहे हैं, सपने में भी भाषा है। वैज्ञानिक परीक्षण किए गए कि सपने के समय में भी मनुष्य का स्वरयंत्र सक्रिय होता है। स्वरयंत्र निष्क्रिय हो जाए तो फिर स्मृति नहीं हो सकती, कल्पना नहीं हो सकती, चिंतन नहीं हो सकता। यह सारी सक्रियता स्वरयंत्र की सक्रियता से ही हो सकती है। इसीलिए आपको निर्देश दिया जाता है कि विशुद्धि-केंद्र पर ध्यान केंद्रित करें, कंठ की प्रेक्षा करें। जैसे-जैसे इसके गूढ़ रहस्य आपकी समझ में आते जाएंगे तब सही मूल्यांकन होगा कि हम क्या कर रहे हैं। अन्यथा तो ऐसे लगता है कि कंठ को देखो, इस जीभ को देखो, इनको तो क्या देखना है? रोज खा रहे हैं, जीभ को देख ही रहे हैं। स्थूल बात को पकड़ते हैं, समझ में नहीं आता। जैसे-जैसे गहरे उतरेंगे, रहस्य को पकड़ेंगे, तब ज्ञात होगा कि कंठ को देखना कितना मूल्यवान होता है। जिस व्यक्ति ने कंठ पर कायोत्सर्ग करना सीख लिया, स्वरयंत्र को शिथिल करना सीख लिया—उसने बहुत-सारी समस्याएं हल कर लीं। एक प्रश्न हो सकता है कि सामयिक समस्याएं हल कर लें तो आंतरिक समस्याओं का समाधान भी मिल जाए, किंतु समस्या केवल आंतरिक ही तो नहीं है। समस्या केवल आवेगात्मक या संवेगात्मक ही तो नहीं है। यथार्थ की समस्याएं भी मुंह बाए खड़ी हैं। गरीबी है तो रोटी की चिंता, परिवार है तो लड़के-लड़कियों की पढ़ाई की चिंता, शादी की चिंता, कितना दहेज, कितनी यथार्थ की चिंताएं। ध्यान करने से वे समस्याएं नहीं सुलझेंगी। आपने दस दिन ध्यान का अच्छा अभ्यास किया। घर पर गए, ऐसा तो कोई जादू नहीं होगा कि लड़के-लड़कियों की शादी भी मजे में हो जाएगी, पढ़ाई के खर्चे के बिल भी आप चुका

देंगे। यह तो नहीं होगा। यथार्थ की समस्याओं का समाधान करना पड़ेगा, तभी समाधान मिलेगा। तो फिर ध्यान एक सामयिक उपचार ही रहा कि यहां दस दिन बैठे रहे। आराम से रहे, कायोत्सर्ग करते रहे। अच्छा लगा और जैसे ही उस भट्टी में गए वैसे ही आंच आने लगी। यह एक स्वाभाविक बात है। अगर कोई आदमी यह सोचे कि ध्यान के द्वारा खेती भी हो जाएगी, रोटी भी मिल जाएगी, गरीबी भी मिट जाएगी, विवाह-शादियां भी हो जाएंगी, पढ़ाई का खर्चा भी मिल जाएगा, कपड़े भी मिल जाएंगे तो ध्यान को जैसे ऐसा कल्पवृक्ष मान लिया कि सब कुछ उससे हो जाएगा। यह कैसे होगा? धर्म को भी कुछ लोग कहते हैं कि धर्म करो, सब-कुछ हो जाएगा। मैं मानता हूं कि इससे बड़ा कोई झूठ नहीं हो सकता। यह तो बड़ा झूठ है। ध्यान कोई अनंत और असीम शक्तिशाली नहीं है। ध्यान की भी अपनी सीमा है। वह अपनी सीमा में ही काम कर सकता है। आपके मानसिक तनाव को, भीतर से आने वाले तनाव को, आवेगों, संवेगों से आने वाले तनाव को 'ध्यान' मिटा सकता है। आप यह समझें कि वह रोटी भी उपलब्ध करा देगा, तो बहुत झूठी कल्पना होगी। पर एक बात और समझें कि ध्यान रोटी तो नहीं दे सकता, विवाह- शादी का खर्चा तो नहीं दे सकता, पढ़ाई का खर्च व होटल का बिल चुकाने की बात तो नहीं कर सकता, किंतु इन यथार्थ की समस्याओं से जूझते समय जो परेशानियां होती हैं—उनसे जरूर आपको बचा लेगा।

दो बातें होती हैं—(1) समस्या का सामना करना, (2) समस्या से परेशान होना। ये बिल्कुल अलग-अलग दो बातें हैं। हिंदुस्तान की गरीबी और अन्य समस्याओं में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि समस्या को सुलझाने के लिए जिस प्रकार की चित्त की प्रेरणा चाहिए—वह नहीं है। इसके विपरीत परेशान करने की स्थितियां काम कर रही हैं। अगर हम इन दो बातों को अलग कर सकें, पानी में आकर पड़ी हुई गंदगी को साफ कर सकें, पानी को फिल्टर कर सकें, तो पानी बिल्कुल साफ होगा। हम इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि समस्याओं का समाधान खोजने में, समस्याओं से जूझने में जिस प्रकार के चित्त की आवश्यकता है वैसा हमारा चित्त नहीं है। जाते तो हैं समस्या का समाधान करने के लिए, किंतु परेशान चित्त के कारण एक और समस्या पैदा कर लेते हैं।

हम ऐसे चित्त का निर्माण करें जिससे समस्याओं का सामना करने में वह सक्षम हो सके। कभी भी समस्याओं से परेशान न हों।

इस प्रकार के चित्त के निर्माण के लिए आत्मानुशासन अपेक्षित है। आत्मानुशासन तब घटित होता है जब व्यक्ति में शरीर, श्वास, प्राण, वाणी और मन—इन पांचों पर अनुशासन करने की क्षमता विकसित होती है। इन सब अनुशासनों का घटक है 'ध्यान'। ध्यान के जरिए हम एक आत्मानुशासन को विकसित करने की दिशा में प्रस्थान कर सकते हैं। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

दर्शन और उन्मीलन

❑ यशदेव शल्य ❑

किंतु इन प्रश्नों के संबंध में यह रोचक बात है कि इनके उत्तर कभी उस प्रकार निर्णायक रूप से नहीं दिए जा सकते। ऐसे प्रश्न प्रायः ही अतल-अनवगाह्य सत् के गवाक्ष उद्घाटित करते हैं और इनके उत्तर प्रायः ही अतल-अनवगाह्य सत् में प्रतिष्ठित करते हैं। इनके उत्तर देने के प्रयत्न किए जाते हैं, किंतु उत्तर देने वाला अधिकांश में यह पाता है कि बहुत कुछ और है जो छूट गया है। दूसरे तो सदा ही उस उत्तर को अपर्याप्त और बहुत बार भ्रांत भी मानते हैं और अपनी दृष्टि से अभ्रांत उत्तर देने के प्रयत्न करते हैं। इन उत्तरों में दूसरी रोचक बात यह होती है कि सब उत्तर अपर्याप्त देखे जाने पर भी कुछ अधिक सम्यक् और अधिक गहरे देखे जाते हैं और कुछ कम। किंतु इसका अर्थ यह हुआ कि ये प्रश्न एक अर्थ में वैसे भी होते हैं जैसे 'क्या साथ के कमरे में घट है?' प्रश्न है। क्योंकि इनमें भी वस्तु की उपलब्धि ही लक्षित होती है और लक्षित वस्तु से ही उत्तरों की सम्यक्ता-असम्यक्ता और अभ्रांतता-भ्रांतता का निर्णय हो सकता है।

'उन्मीलन' शब्द का साधारण अर्थ 'बंद कुछ का खुलना' होता है। जैसे रात को बंद हुए फूल का प्रातः खुलना, बंद आंख का खुलना आदि। इसी अर्थ का आगे विस्तार करते हुए 'भाव का उन्मीलन', 'विचार का उन्मीलन'—पदों का प्रयोग भी होता है। यों भावनाएं हमारे हृदय में आती ही रहती हैं : काम, क्रोध, प्रेम, द्वेष से हृदय प्रायः ही उद्विग्न रहता है। इसी प्रकार हम कुछ न कुछ सोचते भी रहते हैं, किंतु इसे 'उन्मेष' या 'उन्मीलन' नहीं कहा जाता। भावना या विचार के साथ 'उन्मीलन' शब्द का प्रयोग तब किया जाता है जब ये सत्य के ज्ञापक होते हैं। यह उन्मीलन ही कवि, कलाकार और दार्शनिक को जन-साधारण से अलग करता है और उसी का न्यूनाधिक्य कवियों और दार्शनिकों में कोटि-भेद का हेतु होता है।

आपको ज्ञात ही होगा कि सत्य के संबंध में एक दृष्टि यह है कि यह केवल इंद्रियों से ही ज्ञापित होता है। इसी के अनुसार बहुत-से लोग ईश्वर को दिखाने की मांग करते हैं। इसी मान्यता के अनुसार पश्चिम के तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने विज्ञान को ही सत्य का एकमात्र ज्ञापक स्वीकार किया, दर्शन को सत्य विषयक स्वीकार नहीं किया। किंतु यदि यह मान भी लें कि केवल विज्ञान ही सत्य के लिए एकमात्र गवाक्ष है तो भी इससे एकमात्र इंद्रियों की सत्य-प्रापकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि विज्ञान कोई इंद्रिय-प्रदत्तों की सूची प्रस्तुत नहीं करता बल्कि उस ऋत की खोज करता है जो इंद्रिय-प्रदत्तों का धारक है। इसीलिए न्यूटन का वृक्ष से गिरते सेब को देखना विज्ञान नहीं कहा जाता बल्कि उसके मस्तिष्क में इस प्रश्न का कौंधना कि सेब नीचे ही क्यों गिरा, ऊपर की ओर क्यों नहीं गया—वैज्ञानिक प्रश्न का उन्मेष कहा जाता है जो उस उत्तर के उन्मेष का हेतु बना जिसे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत कहते हैं। अब यह गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत इंद्रिय-गोचर नहीं है, यह स्पष्ट है। तब क्या यह बुद्धि-गोचर है। क्या बुद्धि-गोचर कुछ होता है, 'होने' के किसी अर्थ में? किंतु भौतिकवादी या तार्किक प्रत्यक्षवादी तो ऐसे कुछ के 'होने' को स्वीकार नहीं करते। किंतु वे विज्ञान को तो स्वीकार करते हैं। इसे वे किसी वस्तु या सत्य का 'होना' नहीं कहते बल्कि 'व्यवहार सौकर्य का उपाय' कहते हैं। इसका क्या अर्थ है इसके विवेचन में हम नहीं जाएंगे, क्योंकि इसका अर्थ केवल उनके पूर्वाग्रह में ही मूलित है, जिसके विवेचन में जाना प्रसंगांतर में भटकना ही होगा। यहां केवल इतना जानना ही प्रासंगिक है कि वे 'बुद्धि के गोचर' जैसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं करते। किंतु न्यूटन को तो कुछ 'दिखाई' दिया था, कुछ कौंध जैसा, जिसने उसके सत्य के अनुसंधान के लिए उसे बाध्य कर दिया और अंत में उसने पाया कि उसे जो कौंध दिखाई दी थी, वह एक महत् सत्य की झलक थी, और न्यूटन द्वारा दृष्ट इस सत्य को पीछे सबने चकित होकर देखा।

किंतु यह विचारणीय है कि क्या न्यूटन द्वारा दृष्ट वह सत्य कहीं पर, कहें प्लेटो के द्यू-लोक में, किसी अर्थ में, उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सेब हमारे भू-लोक में होता है? अधिकांश दार्शनिक ऐसे किसी लोक को और ऐसे किसी होने को नहीं मानते। हमारे यहां बौद्ध और वेदांती तो इसे स्पष्ट रूप से ही नहीं मानते। जो दूसरे दर्शन किसी परोक्ष भाव से मानते कहे जा सकते हैं वे भी ऐसा कुछ स्पष्ट रूप से कहते नहीं कहे जा सकते। किंतु यदि हम विचारपूर्वक देखें तो हम पाएंगे कि कोई सत्य ऐसा नहीं है जिसे हम इस प्रकार नहीं पाते जैसे वह 'बाहर कहीं', 'हमारे से स्वतंत्र', विद्यमान हो, यहां तक कि 'मैं हूं' इसके वाच्य सत्य को भी। किंतु ये सत्य हमारे देखे होने से पूर्व और अन्यत्र कहीं होते हैं, यह भी नहीं कह सकते। किंतु यहां तुरंत आपत्ति होगी कि क्या गुरुत्वाकर्षण बाह्य वस्तुगत नहीं है? इसके उत्तर में हम प्रश्न करना चाहेंगे कि 'क्रूरता त्याज्य और करुणा वरणीय है' यह क्या निरपेक्षतः सत्य नहीं है? इसी प्रकार श्रीकृष्ण की प्रेरणा से अर्जुन द्वारा देखा गया सत्य, वसुबंधु द्वारा विज्ञप्तिमात्रता के रूप में, कांट द्वारा देश-काल के अप्रायराई फोर्म ऑफ इंट्यूशन होने के रूप में देखे गए सत्य क्या वस्तुगत सत्य नहीं हैं? यदि नहीं तो ये कैसे सत्य हैं? या कि ये सत्य हैं ही नहीं, कोरी कल्पनाएं ही हैं? किंतु यदि ये कल्पनाएं ही हैं तो फिर क्या हम इन दार्शनिकों का आदर कल्पना की चातुरी के लिए करते हैं, किसी सत्य-दर्शन के लिए नहीं? किंतु यदि ये दार्शनिक सत्यद्रष्टा ही होते हैं, तो उनमें मतभेद कैसे हो सकते हैं? याकि सत्य भी उतने ही होते हैं जितने मत होते हैं?

अब, यदि इसका उत्तर यह दें कि 'चाहे सब मत सत्य नहीं होते' हों, किंतु मतों के सत्य होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनमें ऐक्य हो, तो इसमें आप को क्या आपत्ति है? आपने यह कैसे मान लिया कि सत्य एक ही होता है? यह ठीक है कि यदि 'देश-काल $क_1$ पर घट है' सत्य है तो यह सत्य नहीं हो सकता कि 'देश-काल $क_1$ पर घट नहीं है।' किंतु यह देश-कालात्मक विषयों का ही वैलक्षण्य है, सब विषयों का नहीं। किंतु देश-कालात्मक विषयों को सत् का और तद्विषयक कथनों की उनसे संगति को सत्य का मानदंड बनाने के लिए कोई औचित्य नहीं बताया जा सकता। दुर्भाग्यवश दार्शनिकों ने सत् और सत्य के ऐसे ही प्रतिमान निश्चित किए हैं जिनका आदर्श इंद्रिय-विषयों की वस्तुता है। जैसे त्रिकालाबाधितत्व को लें। भौतिक वस्तुएं कालस्थाई होती हैं—'इस घट को मैंने कल देखा था' वाक्य में एक घट के इतने काल तक बने रहने का कथन है। यदि कल देखा घट अब नहीं है तो उसे टूट गया होना चाहिए। अब इसे भी उसका एक प्रकार का सातत्य ही कह सकते हैं—कि वह यदि नहीं टूटा होता तो वह विद्यमान होता। किंतु यदि यह भी मान लें कि घट टूट गया तो वह असत् हो गया, तो भी कुछ काल तक तो वह था और अब वह बाधित हो गया! और तब इसे आधार बनाकर कह सकते हैं कि जो इस प्रकार सर्वतो भावेन अबाधित रहता है वह सत् है और जो भौतिक वस्तु के समान कालांतर में बाधित हो जाता है वह सत् नहीं है। इस प्रकार सत्-असत् के मानदंड का उपमान इन वस्तुओं से ही लिया जाता है। अन्यथा गणित के समीकरण त्रैकालिक रूप से सत्य होते हैं। किंतु इस प्रश्न का उत्तर कि 'क्या यह प्रतिमान सत्य का युक्त प्रतिमान है?' सत्य या असत्य होगा या नहीं? यदि होगा तो इस प्रश्न और उत्तर के प्रसंग में त्रिकालाबाधितत्व की शर्त यहां प्रासंगिक भी कैसे होगी? अब, ऐसे प्रश्न तो हम करते ही हैं और इनके उत्तर भी खोजते हैं।

किंतु इन प्रश्नों के संबंध में यह रोचक बात है कि इनके उत्तर कभी उस प्रकार निर्णायक रूप से नहीं दिए जा सकते। ऐसे प्रश्न प्रायः ही अतल-अनवगाह्य सत् के गवाक्ष उद्घाटित करते हैं और इनके उत्तर प्रायः ही अतल-अनवगाह्य सत् में प्रतिष्ठित करते हैं। इनके उत्तर देने के प्रयत्न किए जाते हैं, किंतु उत्तर देने वाला अधिकांश में यह पाता है कि बहुत कुछ और है जो छूट गया है। दूसरे तो सदा ही उस उत्तर को अपर्याप्त और बहुत बार भ्रांत भी मानते हैं और अपनी दृष्टि से अभ्रांत उत्तर देने के प्रयत्न करते हैं। इन उत्तरों में दूसरी रोचक बात यह होती है कि सब उत्तर अपर्याप्त देखे जाने पर भी कुछ अधिक सम्यक् और अधिक गहरे देखे जाते हैं और कुछ कम। किंतु इसका अर्थ यह हुआ कि ये प्रश्न एक अर्थ में वैसे भी होते हैं जैसे 'क्या साथ के कमरे में घट है?' प्रश्न है। क्योंकि इनमें भी वस्तु की उपलब्धि ही लक्षित होती है और लक्षित वस्तु से ही उत्तरों की सम्यक्ता-असम्यक्ता और अभ्रांतता-भ्रांतता का निर्णय हो सकता है।

इसके लिए यह देखना होगा कि इस प्रश्न में लक्षित वस्तु कैसी है? इसके लिए इस प्रश्न को एक बार फिर से देखें। प्रश्न है कि 'क्या भौतिक वस्तुओं विषयक कथनों के सत्यासत्य को सत्यासत्य का प्रतिमान बनाया जा सकता है?' यह प्रश्न स्पष्टतः भौतिक वस्तु विषयक नहीं है। यह सत्यासत्य के प्रतिमान विषयक है जिसके उत्तर के लिए सत् के स्वरूप का निर्धारण अपेक्षित है और उस निर्धारण में भौतिक वस्तुओं का स्वरूप इस दृष्टि से विवेच्य बनता है कि ये वस्तुएं सत् की कसौटी पर पूरी उतरती हैं या नहीं?

अर्थात् इस प्रश्न में भौतिक वस्तुएं विषय ही नहीं रहतीं क्योंकि भौतिक वस्तुएं तो वे होती हैं जो इंद्रिय-गोचर होती हैं या हो सकती हैं—घट विशेष, पट विशेष आदि, किंतु इस प्रश्न में भौतिक वस्तु नहीं, उसका स्वरूप सत् को समझने के अंतर्गत विचारणीय है। अब यह 'भौतिक वस्तु-स्वरूप' भौतिक वस्तु से किस बात में भिन्न या समान है और 'वस्तु-स्वरूप' 'भौतिक वस्तु के स्वरूप' से किस बात में भिन्न या समान है?

इसका उत्तर दिया जाएगा कि ये इस बात में भिन्न हैं कि प्रथम से द्वितीय में सामान्यीकरण अधिक है। इन्हें सामान्यीकरण के सोपान भी कहा जा सकता है। किंतु यह सामान्यीकरण क्या है और इसके सोपानों का क्या अर्थ है? ये सामान्य इंद्रिय-गोचर वस्तुएं नहीं हैं। किंतु तब क्या यह कोई वस्तुएं ही नहीं हैं? यदि ये वस्तुएं ही नहीं हैं तो इनको विषय बनाकर जो बात होती है वह क्या काल्पनिक वस्तुओं के संबंध में काल्पनिक बात ही होती है? किंतु 'वस्तु-स्वरूप' पद का वाच्य घटत्व के समान सामान्य भी नहीं होता और सामान्य काल्पनिक ही होते हैं यह भी कोई स्वतःसिद्ध बात नहीं है। यदि यह स्वतःसिद्ध नहीं है तो इस प्रश्न पर विचार न तो सामान्य विषयक है और न इसका समाधान कल्पना-विहार।

ये सब विषय चेतना को उसकी प्रत्यङ्मुखता में उपलब्ध होते हैं और चेतना के लिए ज्ञान का एक नया और अपनी व्यापकता और गहराई में निस्सीम क्षेत्र उद्घाटित करते हैं। यों जगत भी चेतना का ही उन्मेष है, जैसा कि उपनिषद् ने 'स अकामयत् बहुस्याम्' में प्रतिपादित किया है। वह उन्मेष आद्य चित्त का है। दूसरा उन्मेष जीवों की दैहिक और ऐंद्रिक चेतना में विषय-प्रस्तुति के रूप में होता है। तीसरा उन्मेष मानवीय चेतना में विषय-विकल्पों के रूप में होता है, जिसे कांट विषयबोध की कोटियां कहते हैं। एक चतुर्थ उन्मेष होता है जो चेतना की प्रत्यङ्मुखता में घटित होता है। इसके अनेक स्तर और रूप होते हैं, कुम्हार के घटत्व-दर्शन से लेकर कांट के विषयबोध की कोटियों के दर्शन और वाल्मीकि के उस भाव-लोक के दर्शन तक जो दर्शन रामायण महाकाव्य के रूप में प्रतिफलित हुआ। सभी उन्मेष—आद्य चित्त से लेकर दार्शनिक और कवि तक के—एक साथ सर्जनात्मक और दर्शनात्मक होते हैं। किंतु प्रत्यङ्मुख चेतना के उन्मेषों में दृष्ट अर्थ अपनी गहराई में अतल और विस्तार में अपार होते हैं और इस प्रकार अनिवार्य रूप से केवल अंशतः ही अवगत हो सकते हैं।

❖

प्रकाश और स्वास्थ्य

जो धन का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे प्रकाश की उपेक्षा कर धुएं को अपने भीतर संचित कर रहे हैं।

जो सत्ता का संग्रह करते हैं, उसका त्याग नहीं करते, वे स्वास्थ्य की उपेक्षा कर दूषित वायु को अपने भीतर संचित कर रहे हैं।

जीवन का सूत्र है—लो, काम में लो और त्याग दो। जो इस सूत्र से परिचित हैं, उनके जीवन में प्रकाश है, सुख है और स्वास्थ्य है।

जो केवल लेना जानते हैं, देना नहीं जानते, भोग करना जानते हैं, किंतु त्याग करना नहीं जानते, उन्हें न प्रकाश प्राप्त है और न स्वास्थ्य।

भोग से शौर्य का दीप बुझता है और त्याग से वह प्रज्वलित होता है। भोग से जीवन का फूल मुरझा जाता है और त्याग से खिलता है।

—मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

अध्यात्म का व्याकरण

❑ डा. राजानन्द ❑

शांति और मानव कल्याण के नाम पर दो विश्वयुद्धों में नरसंहार व उजाड़ हुआ, फिर भी हम मूल्यों और नैतिकता का प्रचार करते रहे। यह स्पष्टतः शक्ति तथा भौतिक संपन्नता का प्रदर्शन रहता आया। दुर्भाग्य है कि आज भी अलग-अलग क्षेत्रों में वैमनस्य बोकर कूटनीति बरती जा रही है—जिसे विदेश नीति कहा जा रहा है। राष्ट्रों की विदेश नीति हित और लाभ से निर्देशित है। वैश्विकता इस प्रकार की दृष्टि से संभव नहीं हो सकती। मुख्य रूप से छूट रहा है—हमारा भाव पक्ष तथा आत्मिक पक्ष। ये आध्यात्मिक पक्ष के पर्याय हैं। उपभोक्ता संस्कृति, बाजार संस्कृति का क्या अर्थ लिया जाए? क्या संस्कृति का प्रत्यय भी अपनी निहित फलितता से आशय-बदर हो गया?

परिवर्तनशीलता यदि सामान्य पदार्थिक धर्म है, तब भाषा और हमारे द्वारा स्वीकृत प्रत्ययों को भी आशय के प्रसंग में बदलना चाहिए। भाषा यद्यपि अभिव्यक्ति का माध्यम है, पर अभिव्यक्ति अनुभवों तथा अनुभूति की होती है। अनुभूति यथार्थ प्रेरित भी होती है, कल्पना संयोजित भी। महत्त्व संदर्भ का रहता है।

अर्थशास्त्र, अन्य अनुशासन भी, तथा अध्यात्म को अधिकतर विपरीतमुखी माना जाता है। अनुशासनों को भौतिक, सांसारिक, व्यावहारिक माना जाता है। अध्यात्म को परा भौतिक। जबकि तथ्य यह है कि अनुशासन भी मनुष्य द्वारा अपनी बेहतरी के लिए विकसित किए गए, अध्यात्म भी। ज्ञान के प्रकार हैं ये। एक प्रकार का ज्ञान भौतिक सत्यों को जानने का है, दूसरा अपने होने के आस्तित्विक सत्य को। ज्ञान, मात्र ज्ञान नहीं रहता मनुष्य के साथ। ज्ञान की अंतःऊर्जा सृजनधर्मी है। मानवीय इतिहास चाहे भौतिक हो अथवा सांस्कृतिक, विकासात्मक रहा है। एक तरफ मनुष्य ने नई-नई व्यवस्थाएं , नए-नए अनुसंधान तथा आविष्कार किए, दूसरे पक्ष में वह अपने सत्य को जानने की प्रक्रिया में विभिन्न दर्शन, धर्म, चिंतनप्रधान अध्यात्म की ओर उन्मुख रहा। इन सारे अनुसंधानों तथा आविष्कारों—इन्हें सृजन भी कहा जाए तो अनुपयुक्त नहीं होगा—के मूल में दो सत्य रहे हैं—जिजीविषा-बोध, दूसरा मृत्यु-बोध। नित्यता-अनित्यता को इसने मानक बनाकर सत्य के प्रकार निश्चित करने का प्रयास किया। द्वंद्वात्मकता उसमें है, सृष्टि में है, इसलिए वह द्विपक्षीय श्रेष्ठता की तलाश में रहता आया है और यह क्रम आगे भी चलना है।

सारे संयोजन-आयोजन उसने अपनी जाति के लिए ही किए, पर क्योंकि उसकी नियति भौतिक संसार में रहने की रही, इसलिए उसने सामंजस्य और विकास के प्रयास किए। उसका विवेकी-विकास जैसे-जैसे सरल से जटिल होता गया, उसके सत्य भी रूपांतरण लेते गए। ज्ञान, रचनात्मकता और चिंतन (चेतना) की सततता ने उसे घुमंतू जीवन से आज के जटिल वर्तमान तक पहुंचा दिया।

डाक्टर राधाकृष्णन् वास्तविकता (सत्य) की दो किस्म बताते हुए लिखते हैं—वास्तविकता (ब्रह्म) के दो प्रकार—एक अनुभवातीत (लोकोत्तर) और दूसरा अनुभवगम्य (लौकिक)—एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं। वे गीता के परिचय भाग में आगे लिखते हैं—मनुष्य के सम्मुख जो समस्या है, वह उसके व्यक्तित्व के संघटन की है—एक ऐसे दिव्य अस्तित्व के विकास की, जिसमें कि आत्मिक मूलतत्त्व आत्मा और शरीर की सब शक्तियों का स्वामी हो। यह संघटित जीवन आत्मा द्वारा रचा जाता है।

मनुष्य का भावात्मक पक्ष, बौद्धिक पक्ष तथा आत्मिक पक्ष अलग-अलग नहीं हैं। इनकी संयुक्त स्थिति है। तीनों सक्रिय पक्ष हैं। इनका संतुलन और सक्रियता उसे उर्वर तथा रचनात्मक बनाए रखते हैं। किसी भी तरह का अतिरेक या विघटन, उसके लिए अस्वास्थ्यकर ही नहीं साबित होता, उसकी दृष्टि को दोषपूर्ण कर देता है।

वर्तमान की मानसिकता और स्थिति को समझें। हमारे सामने चिंतन रखा गया—मनुष्य सर्वश्रेष्ठ जीव है। वह बुद्धि से जो भी निर्णय करता है—वही सत्य है। बुद्धि द्वारा तर्कशक्ति से उसने अब तक की उपलब्धियां प्राप्त की हैं। इसे वैज्ञानिक दृष्टि कहा गया। और वैज्ञानिक दृष्टि की विशेषता है कि वह सही समूची चीज को विश्लेषण की प्रक्रिया में खंडों तथा अंगों में देखती है। तार्किकता में भावना की गुंजाइश नहीं रहती। भावना वैयक्तिक हो या सामूहिक—विवेक-सम्मत निर्णय नहीं होने देती। अतः तर्क ही प्रमाण है। अनुशासनात्मक शास्त्रों की स्थापनाएं इसी प्रयोगात्मक पद्धति से सिद्धांत रूप में आई हैं। यह दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक व पदार्थिक है। राजनीति तंत्र, अर्थ तंत्र, सैन्य तंत्र, सामाजिक संस्थाओं का तंत्र-जाल मनुष्य के कल्याण के लिए बताए जाते हैं। ये व्यवस्था के लिए हैं। उपयोगिता और भोग इनका आशय है तथा लक्ष्य हमें शब्दों के माध्यम से विश्लेषण करके बताया जाता है कि आधुनिकता के बाद अब उत्तर आधुनिकता शुरू हो गई, कि यह युग वैश्वीकरण का है, विश्व व्यापार का संगठन सबके लिए हितकर है। विकसित, अर्ध विकसित तथा अल्प विकसित राष्ट्रों के रूप में कोटिकरण भी वैज्ञानिक स्वीकृति पा गया। अमीरी-गरीबी और तरह-तरह की विषमताएं मान्य हैं। ये सारे मानक भौतिकता के हैं। राष्ट्र श्रेष्ठ इसीलिए है, राष्ट्र की नस्लें इसी दृष्टि से श्रेष्ठ हैं। यहां तक कि गोरे-काले की चमड़ी में श्रेष्ठता-निम्नता का भेद है। जबकि स्वतंत्रता, न्याय, समानता के मूल्यों को पूरी सदी में आधार माना गया।

इसका मुख्य कारण है कि हमारे विकास का प्रत्यय तथा मॉडल पूर्णतया भौतिक रहा। हमने 'वाद' और 'संस्कृति' शब्द को प्रत्यय के रूप में जोड़कर विचारधाराओं को निर्मित कर लिया और इसी के तहत होड़ में फंस गए। तंत्र और संस्थाओं को नैतिक आधार पर खड़ा किया, लेकिन व्यावहारिकता में उनकी उपेक्षा की। शक, भय, क्रोध, अधिकार की भावना तथा शक्ति-प्रदर्शन हमारी प्रवृत्ति नहीं, आग्रही आवेश बने रहे। शांति और मानव कल्याण के नाम पर दो विश्वयुद्धों में नरसंहार व उजाड़ हुआ, फिर भी हम मूल्यों और नैतिकता का प्रचार करते रहे। यह स्पष्टतः शक्ति तथा भौतिक संपन्नता का प्रदर्शन रहता आया। दुर्भाग्य है कि आज भी अलग-अलग क्षेत्रों में वैमनस्य बोकर कूटनीति बरती जा रही है—जिसे विदेश नीति कहा जा रहा है। राष्ट्रों की विदेश नीति हित और लाभ से निर्देशित है। वैश्विकता इस प्रकार की दृष्टि से संभव नहीं हो सकती। मुख्य रूप से छूट रहा है—हमारा भाव पक्ष तथा आत्मिक पक्ष। ये आध्यात्मिक पक्ष के पर्याय हैं। उपभोक्ता संस्कृति, बाजार संस्कृति का क्या अर्थ लिया जाए? क्या संस्कृति का प्रत्यय भी अपनी निहित फलितता से आशय-बदर हो गया?

'पहल' पत्रिका का 69वां अंक वाल्टर बेन्यामिन के संबंध में निकला है। 1936 में उन्होंने कहा—'हमारी ऐंद्रिक तुष्टि को टेक्नोलोजी ने बदल दिया है और युद्ध इस ऐंद्रिक परितोष के लिए जरूरी सौंदर्य जुटाता है। यह कला को उपभोक्ताकरण है।'

हमारे समय की सबसे बड़ी विशेषता है कि व्यक्ति से लेकर राष्ट्र और राष्ट्रों के समूह अपने हर कार्य को नैतिक और सैद्धांतिक बताते हुए प्राणी-द्रोही कार्य करते हैं। संवेदना अथवा मनुष्य के प्रति सह-भाव की अनुपस्थिति तर्क-शृंखला से पूरी की जाती है। कथनी-करनी का भेद राजनीतिक युक्ति व कार्य-कौशलता बन गया।

शब्दों की अवधारणा अपने साथ अर्थाशय का वृत्त रखती है जो सिकुड़ता-फैलता रहता है। इसकी प्रतीकात्मा का स्वभाव भी यही है। उदाहरण के लिए दर्शन का शब्द 'आत्मा' लिया जा सकता है। दर्शन में 'आत्मा' की अवधारणा के साथ ब्रह्म की अवधारणा जुड़ी है। हम इसे अंतःकरण, अंतर्दृष्टि, अंतश्चेता के पर्याय में लेने लगे। इसे ऐंद्रिक संवेगों, भावनाओं से पृथक् तत्त्व माना। इसको अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में निष्कलंक, पवित्र तथा निर्देशक तत्त्व माना। परम-आत्मा की कल्पना के साथ इसको अजर, अमर मानकर इसके प्रति निष्ठा के साथ कर्मगत नैतिकता, कर्तव्य तथा लौकिक मर्यादा जोड़ी और मानव-चरित्र की बात की। परम को आदर्श गुणों का प्रेरक मानकर चाहा कि उस-सा बना जाए। 'है' से 'होने' का प्रयास ही अध्यात्म में संचरण है। नैतिक और मर्यादित होना है। इसमें बाधक ऐंद्रिक परितोष को माना।

विचार किया जा सकता है, क्या आज की इफरात की सुविधाएं, संपन्नता की तथा आधिकारिक होने की महत्त्वाकांक्षा—जिनका मूल स्वर होड़ का है, किसी प्रकार की नैतिकता, लोक-व्यवहार की अपेक्षा नहीं रखतीं? हमारी मूल प्रवृत्तियों में युयुत्सा, भोग (लस्ट), काम, संचय हैं, तो संवेदना, सामूहिक जीवन, विधायकता तथा आत्म-गौरव भी हैं। प्रथम पक्ष की अतिशयता हमारा वस्तुओं की परतंत्रता में हो जाना है। हमारी विधायकता क्या इसमें नहीं है कि हम

आत्मानुशासन के माध्यम से उस आध्यात्मिकता का विकास करें जिसका प्रथम व अंतिम स्वर है संवेदना, करुणा (दया नहीं), सम-भाव, सह-भाव। गीता के तीसरे अध्याय का सातवां श्लोक है :

यस्त्विंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्ताः स विशिष्यते।।

इसका सीधा अभिप्राय है : जो व्यक्ति मन से इंद्रियों को वश में करके अनासक्त हो, समस्त इंद्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता हो—वही श्रेष्ठ है।

आत्मनियंत्रण को ऋणात्मक (निगेटिव) माना जाता है, जबकि वास्तव में यह विधायक तथा धनात्मक (पोजिटिव) है। क्योंकि यही प्रज्ञावान दृष्टि देता है। हमें सत्य को समझने में मदद देता है और अहंकारी व स्वार्थी नहीं होने देता। बौद्ध दर्शन व धर्म, जैन दर्शन व धर्म, सांख्य, वैदिक दर्शन सब एक तरफ वास्तविक सत्य की ओर संकेत करते हैं, तो दूसरी तरफ ऐसी 'सम्यक् दृष्टि' की प्रेरणा देते हैं जो हमें हमारे ऊपर नियंत्रण करने को उत्प्रेरित करे। मनुष्य-मनुष्य में, सर्व प्राणी जगत में तथा सृष्टि में निष्ठा, सौहार्द पैदा करे। पड़ाव-पड़ाव प्राप्त करनी होती है अपनी श्रेष्ठता, जो सत्यों को आविष्कृत करती है—वैश्विक मंगल के लिए। कारण यह है कि इसे भौतिक बदलावों और इनकी जटिलताओं के बीच में पाना होता है।

यह प्रश्न वाजिब है कि अगर विचारों और चिंतन में मतभेद रहता है, विचारधाराओं में मतांतर रहता है, राजनीतिक तंत्रों में विविधता रहती है, तो दर्शनों और धर्मों में विविधता क्यों रहती है—जबकि ये 'वास्तविक सत्य' का दावा करते हैं!

जहां तक आध्यात्मिक सत्य की बात है, इसके लिए जैन दर्शन ने स्याद्वाद को प्रस्तावित कर यह बता दिया कि सत्य—किसी भी सत्य—को अंतिम सत्य नहीं माना जा सकता। विज्ञान के प्रयोगात्मक सत्य (सिद्धांत), टेकनालॉजी के उपयोगी प्रयोगात्मक सिद्धांत तथा अध्यात्म व धर्म के अनुभूतिपरक सत्य भी अंतिम सत्य नहीं होते। इस जगत (ब्रह्मांड) की रहस्यमयी (अज्ञात) स्थिति व क्रिया को न जानने के कारण मनुष्य की कल्पना उत्प्रेरित होती है जो सृजन प्रवृत्त होती है। इस अनुभूति के कारण अलग-अलग रूप में सत्य को अभिव्यक्त किया गया। लेकिन यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सृजन में संयोजन की नव्यता होती है, पर आधार अनुभव-कोष ही होता है। विधियां विभिन्न हो सकती हैं, पर सर्जित सत्य एक सीमा के बाद सार्विक (यूनिवर्सल) हो जाता है। इसीलिए सत्य-खोजी ऋषियों, धर्म प्रवर्तकों को 'कवि' भी कहा गया है। इन सत्य-अन्वेषी महापुरुषों की अभिव्यक्ति भी विवेक-समन्वित भावनाप्रधान रही है। बौद्धिक समझाइश के साथ हृदय का हृदय से संबोधन होता है—कविता तथा अन्य कलाओं की तरह। यह निर्दंभी सहज मनुष्य की सहज मनुष्य से प्रीतिसिक्त अपील (वेदन) होता है। कबीर को सुना जा सकता है :

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।।

बावजूद दार्शनिक चिंतन, विभिन्न धर्मों की आस्थापरकता तथा नैतिकता के व चारित्रिक श्रेष्ठता के महत्त्व की स्वीकृति के—व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व—क्यों विषमता, वैमनस्य, हिंसा, दंभ और संवेदना-शून्यता की तरफ बढ़ते ही जा रहे हैं? पश्चिम की दृष्टि क्यों इतनी भौतिक हो गई, क्यों इतनी व्यापारिक हो गई कि मानवीय पीड़ा और मानवीय रिश्तों को भी दानी की नजर से देखने लगी? उसमें भी अपना हित सर्वोपरि रखकर?

विश्व में जिसे तीसरी दुनिया की संज्ञा दी गई है, उसके पास आध्यात्मिकता है, मानवीय रिश्तों की स्वाभाविक, सहज ईमानदारी है, उसे शक्ति तथा अर्थ के मंच पर होकर निम्न मानना गलत होगा। समन्वय में विवेक की जितनी आवश्यकता होती है उतनी भावना की शुद्धता की भी होती है। इसी से आत्मीयता पोषित है। शक्तियों का चढ़ाव-उतार इतिहास में देखा जा सकता है। अनुशासन का, संयम का, अहिंसा का महत्त्व भी जानने की आवश्यकता है। विश्व-शांति का मंत्र भोग नहीं हो सकता, स्वार्थपरता नहीं हो सकती—प्रेम तथा समभाव का विस्तार ही हो सकता है। नव-संस्कृति की आवश्यकता है, उत्तर आधुनिकता की भौतिक रमणता की नहीं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने महावीर स्वामी के 'भाव-शस्त्र' की व्याख्या करते हुए इसे स्थाई भाव बताया है। यह मनुष्य का असंयम है। वह कहते हैं, प्राणी के अंतःकरण में जो असंयम है—वही वास्तविक शस्त्र है। जब तक भावना शुद्ध नहीं होती, अहंकार और ममकार व्यक्तित्व में से नहीं हटता (राष्ट्रों का भी) तब तक हम जिस वैश्विकता की प्रतीक्षा कर रहे हैं, वह क्षैतिजिक रहेगी।

❖

अनुभूति

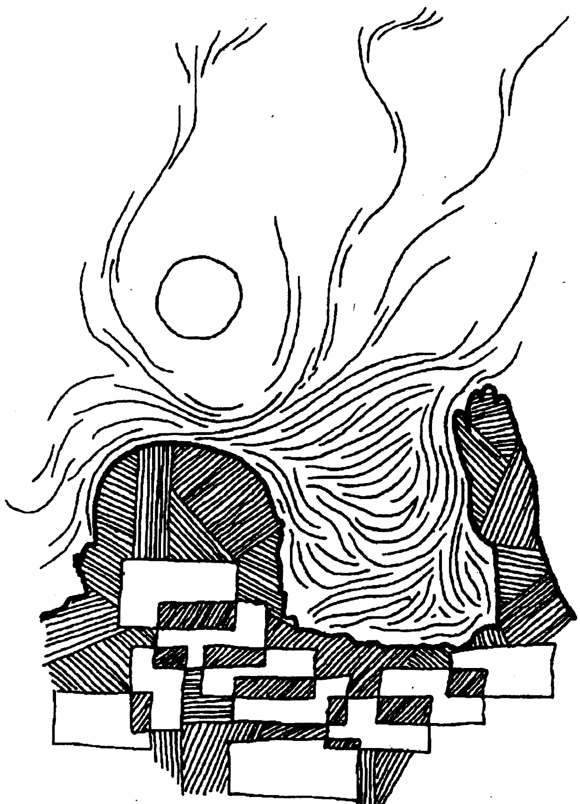

खामोशी

मुझे भी खामोश रहने दो।
खामोश नदियों के साथ
चलना अच्छा है।

खामोशी में कुछ जागता है
विचार हो सकते हैं?
मछलियां हो सकती हैं?
शब्द और मछलियां दोनों मूक हैं।

रात के समय
हरे घने बादल-सी
ऊपर उठती है घास
और चुपचाप, सब कहती है।

—लिथुयानियाई कवि यूस्तिनस
मर्सिन्केविच्युस

रूपांतर : **तुलसी रमण**

मिथुनविरति ब्रह्मचर्यम्

❑ आचार्यश्री तुलसी ❑

अब्रह्मचर्य के इस बढ़ते प्रभाव का मुख्य कारण वातावरण की अस्वस्थता है। आज का वातावरण ब्रह्मचर्य की दृष्टि से इतना प्रतिकूल और दूषित हो गया है कि सामान्य व्यक्ति का उससे अप्रभावित रहना कठिन है। इसके दुष्परिणाम हमारे सामने बहुत स्पष्ट हैं। जहां चार आश्रम यानी सौ वर्ष तक जीने की कल्पना की गई थी, वहां व्यक्ति की दूसरे-तीसरे आश्रम तक आते-आते संजीवनी शक्ति नष्ट होने लगती है। इसके पश्चात् वह जीए भी तो कैसे उस जीने को जीवन कहा जा सकता है?

'तवेसु किं उत्तमम्?—तपस्या में उत्तम क्या है?' भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम ने जिज्ञासा की। भगवान ने कहा—'तवेसु वा उत्तम बंभचेरम्—तपस्या में ब्रह्मचर्य उत्तम है।'

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग के रूप में तप के बारह प्रकार हमारे यहां बताए गए हैं। स्पष्ट है—इनमें ब्रह्मचर्य का नाम नहीं है। जबकि भगवान कह रहे हैं कि 'ब्रह्मचर्य' इन बारह प्रकार के तपों से भी उत्तम 'तप' है। ब्रह्मचर्य में सर्दी-गर्मी नहीं सहनी पड़ती, खाना-पीना नहीं छोड़ना पड़ता, तथापि यह सर्वोत्तम तप माना गया है। वस्तुतः यह 'अंतर' की तपस्या है। इसमें अंतरात्मा को तपाना पड़ता है।

अब्रह्मचर्य या कामवासना व्यक्ति को अंदर-ही-अंदर दुख देती है। वह ऊपर से दिखाई नहीं देती, पर उसकी नींव गहरी होती है। कामना एक ज्वाला है। उससे मनुष्य झुलसता रहता है। विलासी मनुष्य के नाना रोग हो जाते हैं। अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषों का स्रोत है।

मनुष्य की असीम कामवासना को ससीम करने के उद्देश्य से विवाह की परंपरा चली। पर बहुत-सारे लोग विवाह को संकीर्णता मानते हैं। वे अपने भोग पर किसी प्रकार की सीमा नहीं चाहते। उसे सर्वथा मुक्त रखना चाहते हैं। यह ब्रह्मचर्य नहीं है।

ब्रह्मचर्य की परिभाषा

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मिथुनविरति। 'मिथुनविरति ब्रह्मचर्यम्।' मिथुन नाम दो का है। यह सांकेतिक शब्द है। कामवासना की पूर्ति को 'मिथुन' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में संभोग की विरति का नाम ब्रह्मचर्य है—'संभोगविरति ब्रह्मचर्यम्।' ब्रह्मचर्य की साधना इंद्रिय और मन पर नियंत्रण करने की साधना है। यह साधना महिलाओं और पुरुषों—दोनों के लिए समान रूप से करणीय है। पर यह एक तथ्य है कि इस साधना में पुरुषों की तुलना में महिलाएं अधिक सफल हुई हैं।

संभोग की क्रिया में पुरुष के वीर्य का क्षय होता है। वीर्य एक शारीरिक और मानसिक शक्ति है। मनुष्य यदि अपनी शक्ति का संरक्षण न कर सके तो वह क्या कर सकता है? शक्ति सुरक्षित हो तो हर समय उसका उपयोग हो सकता है। बांध का पानी संचित और सुरक्षित होने पर वह समय पर सिंचाई के काम आ सकता है। वीर्य की सुरक्षा का एकमात्र उपाय ब्रह्मचर्य ही है। अपने विकारों पर विजय पाकर ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता है। विकारों पर विजय पाने के लिए आत्मबल की जरूरत होती है। आत्मबल से हीन व्यक्ति इसकी साधना नहीं कर सकता।

जरूरी है वैचारिक दृढ़ता और एकनिष्ठता

ब्रह्मचर्य के साधक को इस साधना में रत होने से पूर्व अपने संकल्प को पुष्ट बनाना चाहिए, अपने विचार को दृढ़ करना चाहिए। विचार की दृढ़ता के पश्चात् उसमें अटूट आस्था होनी चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—'शंका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुपजिज्जा।' ब्रह्मचर्य का पालन करते समय व्यक्ति के मन में बहुधा शंका, कांक्षा और विचिकित्सा हो जाती है—प्राप्त भोग-सामग्री को मैं क्यों छोड़ूं? कौन जानता है, आगे कुछ है या नहीं? जब संसार में करोड़ों व्यक्ति 'ब्रह्मचर्य' का पालन

नहीं करते, तब मैं ही क्यों करूं? ब्रह्मचर्य के पालन से क्या लाभ होगा?.... वह ऐसे प्रश्नों में बुरी तरह उलझ जाता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले व्यक्ति को पहले अपने विचारों को मजबूत करना चाहिए। यह दृढ़ निश्चय कि मुझे ब्रह्मचर्य की साधना करनी है।

ब्रह्मचर्य के साधक को एकनिष्ठ होना चाहिए। बाहरी प्रलोभनों में कभी नहीं फंसना चाहिए। यह भी संभव है कि उसे इस साधना में दूसरों का समर्थन न मिले। पर इस स्थिति में भी उसे अपने निश्चय पर अटल रहना चाहिए। 'न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा' इस आगम-वाणी को सदा याद रखते हुए व्यक्ति अकेला ही लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ता रह सकता है। जो साधक केवल परापेक्षी रहता है, दूसरों का सहयोग खोजता रहता है, वह किसी भी कार्य में सफल नहीं हो सकता।

ब्रह्मचारी के दो प्रकार

ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—पूर्ण ब्रह्मचारी और स्वदारसंतोषी (स्वपति-संतोषी)। स्पष्ट है, इन दोनों में पूर्ण ब्रह्मचारी बनना ज्यादा कठिन है। पर इसके समानांतर यह भी एक तथ्य है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना से जो लाभ प्राप्त होता है, वह स्वदारसंतोषी (स्वपति-संतोषी) से नहीं मिल सकता। पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना से मनुष्य देव बन जाता है। देव का अर्थ है—दिव्य आत्मा। जिन देवों के प्रति जन-जन में आकर्षण होता है, वे तो स्वयं अब्रह्मचारी होते हैं। उनमें और मनुष्यों में इस विषय में कोई अंतर नहीं होता। वे तो स्वयं ब्रह्मचारी साधक के चरण चूमते हैं।

ब्रह्मचर्य : आगमिक निदेश

आगमों में ब्रह्मचर्य की साधना के लिए दस बातों का निदेश दिया गया है। वे हैं—

(1) स्थान-संयम। (2) वाणी-संयम। (3) एकासन-वर्जन। (4) दृष्टि-संयम। (5) श्रुति-संयम। (6) स्मृति-संयम। (7) खाद्य-संयम। (8) अतिमात्र भोजन-वर्जन। (9) विभूषा-वर्जन। (10) मनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष न रखना।

स्थान-संयम—ब्रह्मचारी के रहने का स्थान स्त्री-पुरुष से रहित होना चाहिए। रात में जहां स्त्री रहे, वहां पुरुष न रहे तथा जहां पुरुष रहे, वहां स्त्री न रहे। जब एकांतवासी भी यदा-कदा इस साधना में स्खलित हो जाते हैं, तब विपरीतलिंगी के संसर्ग में रहकर ब्रह्मचर्य को निभाने वाले विरल ही हो सकते हैं। ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री-संसर्ग एवं ब्रह्मचारिणी स्त्री को पुरुष-संसर्ग से सलक्ष्य बचना चाहिए।

वाणी-संयम—ब्रह्मचर्य की साधना के लिए वाणी-संयम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। स्त्री और पुरुष परस्पर काम-कथा करें और मन विकृत न हो, यह कम संभव लगता है। स्त्री और पुरुष ही क्यों, युवक साथी अथवा युवतियां परस्पर भी काम-कथा करें तो मानसिक विकृति पैदा होने की पूरी संभावना रहती है। इसलिए ब्रह्मचर्य के साधक को वाणी-संयम का सलक्ष्य अभ्यास करना चाहिए।

एकासन-वर्जन—साधक स्त्री के साथ एकासन पर न बैठें। यदि वह साधिका है तो पुरुष के साथ एकासन पर बैठने का परहेज करे। जिस प्रकार आग के पास मक्खन पिघल जाता है, उसी प्रकार विपरीतलिंगी के साथ एकासन पर बैठने से ब्रह्मचर्य को खतरा पैदा होने की प्रबल संभावना बन जाती है। हमारे शरीर से प्रतिक्षण पुद्‌गलों का विकीर्ण होता रहता है। ये पुद्‌गल हमारे मन को भी प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। विपरीतलिंगी के शरीर से विकीर्ण होने वाले पुद्‌गल साधक के मन को प्रभावित कर उसके ब्रह्मचर्य के लिए खतरा न बनें, इस दृष्टि से उसके साथ एकासन पर बैठने का निषेध किया गया है।

दृष्टि-संयम—ब्रह्मचर्य का साधक अपनी दृष्टि का संयम रखे, यह नितांत अपेक्षित है। विकार की दृष्टि से वह किसी को न देखे। दृष्टि दूरबीन होती है। विकारी अपने प्रिय को दूर से देख लेता है। जो साधक दृष्टि-संयम नहीं रख पाता, उसका ब्रह्मचर्य कभी भी खंडित हो सकता है। किसी व्यक्ति ने मोतियाबिंद का ऑपरेशन करवाया। डाक्टर ने कुछ दिनों तक पढ़ने एवं अधिक देखने का निषेध किया, जिससे कि आंख को जोर न पड़े। पर रोगी संदेहशील मानस का था। उसने डाक्टर के निदेश/परामर्श पर ध्यान नहीं दिया। उसके मन में विकल्प उठा—क्या मेरी आंख ठीक हो गई है? संदेह को मिटाने के लिए उसने ज्येष्ठ मास के मध्याह्न के सूर्य के सामने देखा। परिणाम स्पष्ट था। आंखों की रोशनी चली गई। विकार-दृष्टि साधक के लिए इसी तरह घातक है। इसलिए ब्रह्मचारी विपरीतलिंगी को विकार-दृष्टि से न देखे।

श्रुति-संयम—दृष्टि-संयम की तरह ही साधक के लिए श्रुति-संयम भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कानों से सत्कथा, उपदेश आदि सुना जाता है तो अश्लील शब्द भी कानों से ही सुनते हैं। ब्रह्मचारी अश्लील शब्दों को न सुने। जब सिनेमा आदि में अश्लील शब्द सुनते हैं तो ही मन में विकार

पैदा होने लगता है। इसलिए साधक के समक्ष जब कभी अश्लील गीत या शब्द कान में पड़ने का प्रसंग उपस्थित हो जाए तो वह उससे सलक्ष्य बचने का प्रयास करे।

अश्लील साहित्य का पठन भी विकार पैदा करने में बहुत बड़ा निमित्त बन सकता है। श्रुति से भी साहित्य का असर गहरा और स्थाई होता है। आज के युवक-युवतियों में अश्लील साहित्य को पढ़ने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ रही है। इसके माध्यम से वे अपनी कामवासना को शांत करने का प्रयास करते हैं। पर वे यह नहीं समझते कि यह तो आग में घी सींचने के समान है। घी सींचने से आग बुझने की अपेक्षा अधिक तेज होती है। अश्लील साहित्य पढ़ने से भी कामवासना शांत होने के स्थान पर और अधिक प्रबल हो जाती है। सार-संक्षेप यह कि अश्लील साहित्य का पढ़ना ब्रह्मचर्य के लिए अत्यंत घातक है। साधक को तो इससे सलक्ष्य बचना चाहिए। जन-सामान्य के लिए भी इसका परहेज आवश्यक है।

स्मृति-संयम—ब्रह्मचर्य की साधना के लिए यह नितांत आवश्यक है कि साधक पूर्वकाल में सेवन किए गए काम-भोग का स्मरण न करे। कभी-कभी तो साक्षात् संबंध से भी अधिक हानिकारक स्मृति हो जाती है।

चार मित्र अर्थोपार्जन के लिए किसी दूरस्थ नगर में जा रहे थे। विश्राम के लिए वे एक मार्गवर्ती ग्राम में एक बुढ़िया ब्राह्मणी के घर में ठहरे। बुढ़िया ने सत्कारपूर्वक उन्हें भोजन करवाया। प्रकृति से वह बहुत भद्र थी। उसे उन यात्रियों से स्नेह हो गया। उसके मन में चिंतन आया—ये सुबह उठकर लंबी यात्रा के लिए प्रस्थान करेंगे। ऐसी स्थिति में मेरे घर से भूखे पेट जाएं, यह मेरे लिए अच्छा नहीं है। भोजन तो इतना जल्दी बन नहीं सकता, पर कम-से-कम छाछ तो पिला दूं। इस चिंतन के आधार पर उसने सुबह जल्दी उठकर बिलौना किया और छाछ बनाई। बड़ी आत्मीयता से चारों यात्रियों को छाछ पिलाकर विदा किया। उनके जाने के पश्चात् सूर्योदय होने पर उसने देखा—अंधेरे के कारण छाछ के साथ एक सांप का भी मंथन हो गया है। उसके मन में बड़ी चिंता हुई—मैंने जो छाछ पिलाई, वह विषमिश्रित थी। मेरी थोड़ी-सी असावधानी के कारण वे बेचारे मौत के मुंह में पहुंच गए होंगे। हा! बहुत बड़ा अनर्थ हो गया... इस चिंता और अनुताप में उसने दो-तीन दिन तक पूरा भोजन भी नहीं किया।

इधर यात्री छाछ के विषमिश्रित होने की बात से सर्वथा अनभिज्ञ थे। उन पर उसका कोई असर नहीं हुआ। वे सकुशल अपने गंतव्य पर पहुंच गए। दो वर्ष पश्चात् वापस घर आते समय मार्ग में विश्राम के लिए उसी गांव में उसी बुढ़िया ब्राह्मणी के घर पर पहुंचे। बुढ़िया ने उनका हार्दिक स्वागत किया। पर वह उन्हें पहचान नहीं सकी। यात्रियों ने भोजन करवाने एवं छाछ पिलाने की बात कही तो उसे स्मरण हो आया और तब उन्हें पहचानने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। वह अत्यंत प्रसन्न होती हुई बोली—'बहुत अच्छा हुआ, तुम सकुशल वापस आ गए।' यात्रियों ने उसके कथन के रहस्य को जानना चाहा। वह उनके अत्यधिक आग्रह के समक्ष बात को छुपाकर नहीं रख सकी। सारा यथार्थ प्रकट कर दिया। चारों यात्रियों ने सुना और विस्मय में डूबते हुए बोले—'अच्छा, उस छाछ में जहर था!' और इतना कहने के साथ ही साथ शरीर पर जहर का असर प्रतीत होने लगा। वे वहीं ढेर हो गए।

आप देखें, विषमिश्रित छाछ पीने से जिनकी मौत नहीं हुई, वे ही उसकी स्मृति-मात्र से काल-कवलित हो गए। इस घटना के परिप्रेक्ष्य में हम ब्रह्मचारी के लिए भुक्त भोगों के स्मरण के निषेध का मूल्यांकन कर सकते हैं।

गरिष्ठ भोजन का वर्जन—ब्रह्मचारी साधक भोजन का पूर्ण विवेक रखे। भोजन का ब्रह्मचर्य की साधना के साथ बहुत गहरा संबंध है। इसलिए शास्त्रों में खाद्य-संयम पर अत्यधिक बल दिया गया है। दशवैकालिक सूत्र में गरिष्ठ भोजन को तालपुट विष की तरह घातक बताया गया है—

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयरसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा।।

एक संस्कृत कवि ने कहा है—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्टैवमोहं गताः।
आहारं सघृतं पयोधियुतं ये भुंजते मानवाः,
तेषामिन्द्रियनिग्रहः कथमहो दंभं समालोख्यताम्।।

—वायु और पत्तों का आहार करने वाले विश्वामित्र, पराशर जैसे उग्र तपस्वी भी स्त्रीमुख के सौंदर्य पर मोहग्रस्त/मुग्ध हो गए, तब घी, दूध, दही से युक्त भोजन करने वाले मनुष्य इंद्रिय-निग्रह की बात करें—यह निरा दंभ है!

वैसे यह एक सामान्य बात है। अपवाद की बात हम छोड़ें, वह कहीं भी संभावित है। इसलिए अपवादस्वरूप कहीं-कहीं रुक्ष भोजन भी साधना के लिए विष हो सकता है, विकार-वासना का कारण बन सकता है। आप देखें, कबूतर कंकर खाता है, रुक्षभोजी है, तथापि उसमें वासना प्रबल होती है। इसके विपरीत हाथी और सूअर जैसे पशुओं के

मांस का भक्षण करने वाले सिंह के लिए वर्ष में मात्र एक बार भोग करने की बात कही जाती है—

सिंहो बली द्विरदसूकरमांसभोजी, संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्।
पारापतः खरशिलाकणभोजनोऽपि, कामी भवत्यनुदिनं वद! कोत्र हेतुः।।

इसलिए इस बात को समझें कि सर्वत्र एक ही सिद्धांत लागू नहीं होता। एक सामान्य नियम होता है। लेकिन उसमें कहीं-कहीं अपवाद भी हो सकता है। आप देखें, उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

दुद्धदहीविगइओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चइ।।

—जो साधक दूध, दही, घी आदि विगय का बार-बार उपभोग करता है, वह तपस्या में रमण नहीं कर सकता है। पर, मैं पूछना चाहता हूं, जो साधक मास-मास की तपस्या का पारण करता है, उसके दूध, दही आदि क्या नुकसान करेंगे? इसलिए एकांत रूप में प्रणीतरस भोजन को विष कैसे कहा जा सकता है? यह ठीक है कि सामान्यतः साधक को गरिष्ठ भोजन से बचना चाहिए, क्योंकि इसका मनोवृत्तियों पर बुरा असर पड़ता है।

गरिष्ठ भोजन की तरह ही साधक के लिए तामसिक भोजन का भी निषेध है। अधिक खट्टा, चटपटा और तीक्ष्ण भोजन साधना में बाधक है। साधक के सामने यह बात बहुत स्पष्ट रहनी चाहिए कि उसके भोजन करने का उद्देश्य स्वाद लेना नहीं है। वह तो मात्र शरीर-निर्वाह के लिए भोजन करता है, जिससे कि वह साधना में सहयोगी बना रहे। शास्त्रों में साधक के भोजन को 'वण विभेषण' की उपमा से उपमित किया गया है। व्रण पर औषध का लेप किया जाता है। उसका उद्देश्य पीड़ा को मिटाना होता है, और कुछ भी नहीं। इसी प्रकार साधक के भोजन करने का उद्देश्य क्षुधा की पीड़ा मिटाना होना चाहिए, स्वाद-लोलुपता नहीं।

अतिमात्र भोजन-वर्जन—इसी क्रम में साधक को अतिमात्र भोजन से भी बचना चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि भूख लगना शरीर का धर्म है। उसे मिटाने के लिए आहार आवश्यक है। पर अति-आहार उचित नहीं है। आयुर्वेद के आचार्य कहते हैं कि व्यक्ति को पेट का आधा भाग भोजन करना चाहिए। शेष आधा भाग पानी और वायु के लिए खाली छोड़ना चाहिए। इससे यह बात बहुत स्पष्ट है कि अति-भोजन न केवल ब्रह्मचर्य की साधना की दृष्टि से ही वर्जनीय है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उससे बचना अत्यंत आवश्यक है।

आचार्य भिक्षु ने भी अति-भोजन पर गहरा प्रहार किया है। अति-भोजन करने वाले व्यक्ति की कैसी स्थिति बनती है, इसका उन्होंने बहुत ही सुंदर चित्रण किया है। अफरा, डकार, अधोवायु की दूषितता, बदहजमी, मंदाग्नि, वमन, आंतों की सूजन आदि शारीरिक स्तर पर होने वाले उसके दुष्परिणाम हैं। स्वाध्याय, ध्यान आदि में मन न लगना, ब्रह्मचर्य में शंका पैदा हो जाना आदि उसके आध्यात्मिक स्तर पर दुष्परिणाम हैं। व्यक्ति स्वाद-लोलुपतावश अति-आहार कर लेता है, पर उसका परिणाम कभी भी अच्छा नहीं आता। अन्न के अभाव में कोई मर जाए, यह विवशता की स्थिति है। पर अधिक खाकर मरे, यह मूर्खता है, प्रथम कोटि की मूर्खता है।

पूछा जा सकता है, अति-आहार की परिभाषा क्या है? शास्त्रों में पुरुष के भोजन का परिमाण बत्तीस ग्रास माना गया है। बत्तीस ग्रास से अधिक खाना उसके लिए अति-आहार की कोटि में आता है। इसी प्रकार महिला के आहार का परिमाण अट्ठाइस ग्रास है। इससे अधिक आहार ग्रहण करना उसके लिए अति-आहार है।

हवा प्राणियों के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। उसके बिना प्राणी जी भी नहीं सकता। लेकिन उसका अतिभाव तो भारभूत ही है। यही बात आहार की भी है। उसके अभाव में प्राणी एक अवधि के पश्चात् जीवित भी नहीं रह सकता। पर अति-आहार शरीर एवं साधना दोनों दृष्टियों से ही घातक है। इसीलिए ब्रह्मचर्य की साधना के लिए इसका वर्जन किया गया है।

विभूषा-वर्जन—ब्रह्मचारी साधक के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह न तो स्वयं शृंगार करे और न ही शृंगार की हुई स्त्री को निहारे। यह एक प्रकट सचाई है कि शृंगार विलास का साधन है। आज का जन-मानस शृंगारप्रिय है। उसे अपने प्राकृतिक सहज सौंदर्य से संतुष्टि नहीं है। इसलिए कृत्रिम शृंगार/प्रसाधन-सामग्री से अपने सौंदर्य को बढ़ाना चाहता है। आए दिन शृंगार से संबंधित प्रतियोगिताएं आयोजित होती रहती हैं।

स्त्रियों में सहज सौंदर्य होता है। फिर भी जाने क्यों उनका आकर्षण कृत्रिम प्रसाधनों के प्रति अधिक रहता है। अपने-आपको ज्यादा सुंदर प्रदर्शित करने की उनकी मनोवृत्ति उनके स्वयं के लिए अनेक बार खतरा बन जाती है। यदि वे कृत्रिम सौंदर्य से मुंह मोड़, अपने आत्मबल को जगा लें, आत्म-सौंदर्य को निखार लें तो उन्हें परापेक्षी होने की आवश्यकता ही नहीं होगी। वे स्वयं ही अपने शील/सतीत्व की सुरक्षा करने में पूर्ण सक्षम हो जाएंगी। इतिहास

में अनेक ऐसी सतियों के नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं, जिन्होंने हंसते-हंसते अपने प्राणों का बलिदान कर दिया, पर शील पर तनिक भी आंच नहीं आने दी, सतीत्व को खंडित नहीं होने दिया। ऐसी नारियों को क्या आप अबला कहेंगे? मेरी दृष्टि में वे अबला तो हैं ही नहीं, किसी भी सबल-से-सबल पुरुष की तुलना में कम नहीं हैं। इसलिए महिलाएं शृंगार/विभूषा के द्वारा स्वयं को सुंदर प्रदर्शित करने की मनोवृत्ति का परित्याग कर अपने आंतरिक सौंदर्य को पहचानें और उसे निखारें। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए तो यह उपयोगी ही नहीं, अत्यंत आवश्यक भी है।

ये नव बातें 'शील की नव बाड़' के रूप में प्रसिद्ध हैं। खेती की सुरक्षा की दृष्टि से जिस प्रकार कंटीली बाड़ का उपयोग और उसका महत्त्व है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की सुरक्षा की दृष्टि से इन बाड़ों का उपयोग और महत्त्व असंदिग्ध है। इन बातों के प्रति सजग रहने वाला साधक ब्रह्मचर्य की साधना की दृष्टि से अत्यंत सुरक्षित हो जाता है। पर यह सुरक्षा की बात यहीं समाप्त नहीं होती है। इसे और सुदृढ़ बनाने के लिए एक परकोटे के रूप में दसवीं बात और कही गई है। ब्रह्मचारी साधक मनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति राग-भाव न लाए। इसी प्रकार अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के प्रति द्वेष-भाव न लाए। इस राग-द्वेष से बचना उसकी साधना को सहज बनाने में अत्यंत योगभूत बनता है।

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपानत'—ब्रह्मचर्य के बल से देवों ने मौत को जीता। वस्तुतः आत्मशक्ति का विकास होने पर अजरामर पद—मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसके बाद मौत का मुंह कभी नहीं देखना पड़ता। पर यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि आज ब्रह्मचर्य की अलौकिक शक्ति का जन-जीवन में अत्यंत ह्रास हुआ है।

अब्रह्मचर्य के दुष्परिणाम

अब्रह्मचर्य के इस बढ़ते प्रभाव का मुख्य कारण वातावरण की अस्वस्थता है। आज का वातावरण ब्रह्मचर्य की दृष्टि से इतना प्रतिकूल और दूषित हो गया है कि सामान्य व्यक्ति का उससे अप्रभावित रहना कठिन है। इसके दुष्परिणाम हमारे सामने बहुत स्पष्ट हैं। जहां चार आश्रम यानी सौ वर्ष तक जीने की कल्पना की गई थी, वहां व्यक्ति की दूसरे-तीसरे आश्रम तक आते-आते संजीवनी शक्ति नष्ट होने लगती है। इसके पश्चात् वह जीए भी तो कैसे उस जीने को जीवन कहा जा सकता है? इसका दूसरा दुष्परिणाम क्रमशः क्षीण होती हुई स्मरण-शक्ति के रूप में सामने आया है। कभी आगम, वेद और पिटक की विशाल ज्ञानराशि भी कंठस्थ के आधार पर सैकड़ों वर्षों तक सुरक्षित रही। आप इस बात को निश्चित रूप से समझें कि यदि मनुष्य को सुखपूर्वक जीना है तो उसे ब्रह्मचर्य की शक्ति को सुरक्षित रखना होगा। यद्यपि ब्रह्मचर्य अपने-आपमें एक कठिन तप है।

ब्रह्मचर्य की साधना में साधक को अपनी वृत्तियों के साथ युद्ध करना पड़ता है। यह साधना मदोन्मत्त हाथी को अपनी भुजाओं में भरने के समान है, नंगी तलवार पर चलने के तुल्य है। इस साधना में वे ही साधक सफल हो पाते हैं जो स्थान-संयम, वाणी-संयम आदि दस बातों का बराबर ध्यान रखें। जो इनके प्रति उपेक्षा बरतते हैं, इनका अतिक्रमण करते हैं—वे किसी भी क्षण अपनी साधना से च्युत हो सकते हैं। अरणककुमार, नंदीसेन, आर्द्रकुमार जैसे अनेक नाम इस कथन की पुष्टि में बताए जा सकते हैं। वस्तुतः साधक का मन जब कमजोर हो जाता है, तब फिर उसका ब्रह्मचर्य की साधना में उपस्थित रहना कठिन हो जाता है, भले ही वह कितना ही उग्र तपस्वी क्यों न हो। बहुधा तो ऐसी स्थिति में वह कोई बहाना बनाकर अपनी ब्रह्मचर्य की साधना को खंडित कर देता है। कहा जाता है कि अट्ठासी हजार तापस गृहवासी हो गए। उन्होंने कई वर्षों तक जंगल में खड़े-खड़े तपस्या की। इस अवधि में बेलें उनके शरीर पर छा गईं। पक्षियों ने वृक्ष समझकर घोंसले बना लिए। ऐसे तपस्वियों ने किसी से सुन लिया—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैवच नैवच।' बस, तत्काल तपस्वी-जीवन छोड़कर गृहवासी बन गए। मैं समझता हूं, 'अपुत्र की गति नहीं होती' यह तो मात्र एक बहाना है। मूलतः तो साधना से उनका विश्वास डोल चुका था। उनके मन में शिथिलता आ गई थी। ऐसी स्थिति में 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति,...' की बात का निमित्त मिल गया और अपनी कमजोरी पर आवरण डालते हुए वे गृहस्थ बन गए। बंधुओ! आप ही बताएं, 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति,....' की बात में कितनी आध्यात्मिकता है? एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी है और दूसरा चार-पांच पुत्र-पुत्रियों को जन्म देकर ब्रह्मचारी बनता है। इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? स्पष्ट है, दोनों में नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ है। रूपक की भाषा में नैष्ठिक ब्रह्मचारी एक सहज साफ-सुथरा कपड़ा है, जबकि बाद में ब्रह्मचारी बनने वाला कीचड़ से लिपटा और साबुन से साफ है। ऐसी स्थिति में दोनों को एक जैसा नहीं माना जा सकता।

अपेक्षा है, ब्रह्मचर्य की साधना का मूल्य/लाभ व्यापक रूप में लोग समझें और यथाशक्ति हर व्यक्ति उसकी साधना में उपस्थित हो। ❖

तीर्थ का अर्थ

❑ दयालचन्द्र सोनी ❑

जानता ही होगा तू। कि जब तूने जन्म लिया तेरी इस दुनिया में। तब भी तू था निर्वस्त्र नंगा। बिना किसी बटुए या पर्स के। और बिना किसी खाद्य-सामग्री से भरे कनस्तर के। तो जब तू इस अपनी दुनिया में करता है तैयारी। तीर्थ की यात्रा की। तो तुझे पुनः बनना पड़ेगा। धनहीन, साधनहीन तथा आवरणहीन। अर्थात् जिसके पास कुछ भी नहीं है। छिपाने के लिए। अर्थात् तुझे अपनानी होगी एक व्यापक नग्नता। और जब तू अपना लेगा। ऐसी व्यापक नग्नता। तो तू पा लेगा तीर्थ को स्वयं ही। उस किसी भी स्थान पर। जहां तू करता होगा निवास। तेरी ही अपनी वर्तमान दुनिया में।

बात एक दिन की। नहीं-नहीं, दिन नहीं। मैं भूल गया। माफ करें। बात एक रात की। सुनिए आप, जो बैठे हैं इस सभा में, आपस में बातें करते हुए या कि चुपचाप। ऐसा हुआ मान्यवर, कि एक बार जबकि मैं। सो रहा था नींद में। सुख से या कि। हो सकता है दुख में ही।

तो श्रीमती सभानेत्रीजी! और सभी उपस्थित बहनो और भाइयो! आया मुझे एक स्वप्न। स्वप्न यानी सपना। आप सब जानते हैं। सपना क्या होता है। क्योंकि सबने देखा ही होगा अपना-अपना।

हां, तो साहब सुनिए। सपना जो आया था मुझे। यह था कि निकला मैं तीर्थ को। हां, तीर्थ ही को। यद्यपि पता नहीं। कि किस तीर्थ के लिए।

खैर, अब क्या करूं? क्योंकि उस सपने को लौटा नहीं सकता मैं। जो आया था मुझे सन् 1956 की एक रात में। अतः संभव नहीं कि मैं उस स्वप्न को लौटा सकूं। और जान सकूं नाम उस तीर्थ का जहां मुझे जाना था। उस सपने में। पर आप स्वयं ले सकते हैं किसी भी तीर्थ का नाम। और मैं भी मान लूंगा कि मैं उसी तीर्थ हेतु निकला था। अपने घर से। हां तो श्रीमन्! मैं निकला था उसी तीर्थ हेतु जिसका नाम आपने ठाना है मेरे लिए।

पर कह दूं एक बात। पहले से आपको जनाबमन्! कि कहीं गलतफहमी ना हो जाए आपको। यानी यह कि इस बार। नहीं थी मेरे साथ। मेरी पूज्य माताजी। जो कि थीं मेरे साथ एक बार। जबकि मैं सचमुच गया था हरिद्वार। बाकायदा लेकर छुट्टी अपनी नौकरी वाली संस्था से।

जी हां, मैं अकेला था। किंतु इस बार भी। मेरे साथ ही था, वही बटुआ यानी पर्स जिसे मैंने खरीदा था दिल्ली के चांदनी चौक में। सन् 1946 में जबकि मैं गया था जामिया मिल्लिया दिल्ली के रजतजयंती उत्सव में। भाग लेने हेतु। जिसे खरीदा था मैंने बहुत ही डरते-डरते। उस बाजार में। जहां उन दिनों हिंदू-मुस्लिम दंगे का था माहौल।

हां, तो वही बटुआ या पर्स था मेरे साथ। और उसमें थी मेरी पूरी एक माह की तनख्वाह। तथा और भी कुछ रकम। जो ली थी उधार। मैंने इसी तीर्थ यात्रा रूपी प्रोजेक्ट हेतु। यानी काफी रुपया। क्योंकि परदेश में सहारा, तो बस एकमात्र पैसा है।

साथ ही एक और बात। जरूरी है साहब। बता देना आपको। और वह है यह। कि मेरे साथ एक था। बड़ा-सा कनस्तर। कनस्तर यानी एक पीपे से बनी हुई पेटी जैसी बना देते हैं। बाजार में कुछ लोग मामूली-सी मजदूरी लेकर।

और उस पीपे या कनस्तर में। सुनिए जरा गौर से। बात यह एक। कि थे कुछ शकरपारे मौणदार। देशी घी में तले हुए और कुछ कचौरियां। और कुछ नमकीन। बेशक बिना मिर्च का नमकीन। जैसा कि मैं खाता हूं शौक से। बशर्ते कि खिलाएं आप। करके खर्चा अपनी गांठ से। बुलाकर अपने घर।

और भी था बहुत-सा समान। बहुत-सी सामग्री भोजन की। जिसका नाम यदि लूं। तो मुश्किलें दो हैं। एक तो यह कि आपके मुख। भर जाएंगे पानी से। और दूसरी यह कि मेरी श्रीमतीजी ने। जिन्होंने कि बनाई थी वह सारी सामग्री। मना कर दिया था। बताने को उनका नाम। ऐसी भरी सभा में।

खैर, आपको इससे क्या। कि क्या था उस कनस्तर में। जो कुछ भी था मेरे लिए था। बस इतना ही काफी है। आपकी जानकारी के लिए। कि जो कुछ भी था। उस भरे हुए कनस्तर में। था मेरे लिए।

अब आगे की बात। सुनिए तात। कि पहुंच गया मैं उसी तीर्थस्थली में। जिसका नाम ठाना है। आपने मेरे लिए। और मैं वहां बैठ गया। एक चबूतरे पर। जो शायद बनाया गया था इसीलिए कि यात्री लोग। बैठें वहां और करें विश्राम। घड़ी-दो घड़ी।

जी हां, बैठा था मैं वहां। तो देखता क्या हूं? कि दूर से एक भीड़। भिखमंगों की। फटेहाल, कंगाल, बेहाल लोगों की। भूखों की नंगों की। लड़ती-झगड़ती। आपस में करती धक्का-मुक्की। बढ़ी चली आ रही है। मेरी ओर।

देखा जब मैंने उन्हें। जाग गया एक दम। मेरा आदर्शवाद। मेरा दयाधर्म। और छा गया विषाद। उन लोगों की दयनीय दशा पर। जिनकी भीड़ बढ़ रही थी मेरी तरफ। फौरन इशारा कर। मैंने उस भीड़ को बुलाया अपने पास। और अपने खाद्यसामग्री से भरे कनस्तर से। थोड़ी-थोड़ी सामग्री। प्रसाद के रूप में। बांट दी सभी को।

किंतु देखिए जनाब! ज्यादती उन लोगों की मेरे साथ। कि बिना जताए कोई एहसान, कृतज्ञता। और बिना दिए ही कोई शुक्रिया, धन्यवाद या थैंक यू। वे लोग वहीं बैठ। उड़ाने लगे चट-पट सब-कुछ। जैसे मांगते हों वे मेरे मत्थे। हिसाब बाप-दादों का। कोई बहुत पुराना। और कर रहे हों उसे। वसूल ब्याज के समेत। पर मेरी दया। कम नहीं हुई इस पर भी। जैसे-जैसे वे खाते गए। वैसे-वैसे मैं भी अपने कनस्तर से। देता गया शेष सामग्री। और वे भी कम नहीं थे। लगातार खाते गए। और नतीजा वही हुआ। जो होना था। यानी मेरा कनस्तर। जो उम्दा खाद्य-सामग्री से भरा था। हो गया खाली। बिल्कुल।

पर नहीं था मुझे। अपने उस कनस्तर के खाली होने का। कोई खास गम या रंज। बल्कि मेरे मन में। उपजा एक गर्व। एक अभिमान। कि देखो अपने नाम (दयालचन्द्र) के अनुसार ही। मैं हूं कितना दयाल! कितना उदार, कितना धर्मात्मा! जो मैं देता ही गया बराबर। बिना अपने पेट की चिंता किए। और वे लोग थे कितने गए-गुजरे। कि खाते ही गए। खाते ही गए निःसंकोच।

इस तरह यद्यपि। हो गया था खाली। वह कनस्तर। मेरी खाद्यसामग्री का। फिर भी था मुझे। एक संतोष। कि अभी भी मेरा वह लंबा कोट। जिसे बनवाया था मैंने सर्दियों में पहनने के लिए (जिसे मैं यहां इस सभा में नहीं लाया हूं) पड़ा है मेरे पास और उसमें है। सुरक्षित वही बटुआ। बटुआ यानी पर्स। फुलाकर अपना पेट। उसमें भरे नोटों से। और करता इंतजार कि कब करूं मैं। कुछ नोटों का खर्चा। ताकि हो सके उस पर्स का फूला हुआ पेट। कुछ हलका।

सोच रहा था मैं। कि यहां परदेश है तो क्या? खाद्यसामग्री का कनस्तर खाली भी हो गया तो क्या? रुपया यानी नोट का वजन। तो है मेरे पास काफी। जिससे चला सकता हूं। मैं अपना काम। यहां परदेश में भी। अच्छी तरह।

किंतु हाय! सुनिए बात। मेरे उस कोट की। उस कोट की भीतरी जेब की। जिसमें सुरक्षित पड़ा था। वह नोटों से भरा पर्स अर्थात् बटुआ। कि वे जो नंगे भिखमंगे थे। वे थे बड़े ठग। बड़े लुटेरे। बड़े ही निर्दय डाकू। कि इधर जब मैं था व्यस्त। और असावधान। उन्हीं को खिलाने में। अपनी वह खाद्यसामग्री। बड़ी उदारतापूर्वक और मन ही मन। मैं कर रहा था गर्व अपनी उदारता का। तो उधर उन्हीं भिखमंगों में से कुछ भिखमंगों ने। चुपचाप आकर पीछे से उठा लिया मेरा वही लंबा कोट। मय उस बटुए या पर्स के कि जिसके भरोसे था। अभी भी मैं निश्चिंत। और मुझे इसकी भनक भी पड़ नहीं पाई थी। मैं तो रहा था निश्चिंत कि यह तो तीर्थ है। स्थान है पवित्र। तो यहां नहीं होती होंगी चोरियां। यहां नहीं रहते होंगे ठग, डाकू, चोर तथा लुटेरे।

इधर मैं देखता क्या हूं कि वह भीड़ भिखमंगों की। मेरी खाद्यसामग्री का कनस्तर खाली करा देने के बाद। एक दम भाग चली। उसी मंदिर की ओर जिसमें विराजती थी मूर्ति। उन्हीं देवता की। जिनके नाम पर प्रसिद्ध था यह तीर्थ। जिसका नाम ठाना है आपने मेरे लिए। और तब मैं पीछे मुड़ा। अपने उस कोट के लिए जो था मेरा एकमात्र सहारा। उस तीर्थस्थली में। पर मैंने देखा यह। कि वह मेरी आशा का केंद्र। कोट तो नदारद है। और साथ में नदारद है वह बटुआ अर्थात् पर्स भी जो था मेरे मन का विश्वास। और मेरी आशा का सहारा। मैंने पाया कि मैं खड़ा हूं वहां। बस एक कुर्ते में, एक पाजामे में और एक टोपी को धारण किए। जैसे कि मैं खड़ा हूं। इस सभा में अभी आपके सामने। मैं हो रहा था। चकित, हैरान, परेशान, भौंचक। कि अब मैं क्या करूं? किसको पुकारूं? किससे शिकायत करूं? किससे मांगूं मदद? बनकर एक भिखारी इस परदेश में? ऐसे परदेश में। जिसका नाम तो था एक तीर्थ का। जहां होनी चाहिए पवित्रता। पर जहां भरी हुई थी ठगी एवं निर्दयता।

तो करता मैं क्या? मजबूर था। सोचा, पता करूं। पुलिस के थाने का। और वहां बताऊं अपनी व्यथा। अपनी दुर्दशा, अपनी मजबूरी। पर देखता हूं क्या? कि कोई भी है

नहीं जिससे मैं पूछूं। या जो करे मुझसे बात। जो मुझे दे सांत्वना। जो पोंछे मेरे आंसू। और मेरे साथ करे निंदा। और दे गालियां। उन लुटेरों को।

'तो थककर तथा हारकर। मैं बैठ गया लाचार। और बैठकर थोड़ी देर। मैं लेट भी गया। बिना किसी बिछौने के। केवल अपने हाथ का बनाकर सिरहाना। और देखिए कुदरत की लीला। कि उस सपने में ही मुझे आ गई नींद। और उस सपने की नींद में ही। मैंने देखा एक और स्वप्न यानी सपना।

और अब सुनिए। सार संक्षेप में। मेरे उस सपने में ही आए। दूसरे सपने की बात। और तब होगी खत्म या समाप्त या पूर्ण मेरी यह सपने की बात।

कृपया, सुनिए ध्यान से। मेरी यह बात। कि उस स्वप्न में। प्रकट हुए मेरे सामने। स्वयं वे परम देव। जो विराजते थे उस मंदिर में। और जिनके नाम पर जाना जाता था वह तीर्थ। जिसका नाम ठाना है। आपने मेरे लिए। और वे इस तरह बोले मुझसे। 'अरे नादान! अरे मूर्ख! क्या इसी बल, इसी बुद्धि और इसी धारणा से। तू चला था इस तीर्थ की यात्रा को?

'मेरे घर आकर भी इतना अविश्वास, इतनी चिंता और इतना भय तुझे? मेरे घर में भी क्या कोई कमी है भोजन की, धन की, वस्त्र की, आश्रय की? यहां भी जरूरत बची है क्या तुझे तेरे अपने निजी बटुए या पर्स की? अपने निजी कोट की? अपने निजी भोजनभरे कनस्तर की? क्या तू उसी के बल पर पा सकेगा आतिथ्य मेरे इस मंदिर में, या तेरे इस तीर्थ में? याद कर। यह नहीं है वह जगत अथवा वह दुनिया। कि जहां से तू आया है। यह है मेरा घर, मेरा जगत, मेरी अलग दुनिया। आया तू मेरे घर और फिर भी अभी तक शेष है तेरा ममत्व? अपने और पराए का तेरा भेद?

'जिसे तू समझता है अपना। क्या वह सचमुच तेरा ही अपना है? और जिसे तू समझता है पराया। अपनी भ्रांति के कारण। क्या तेरा भी कोई हक। नहीं उस पर भी?

'आया है तू तीर्थ यात्रा के नाम पर। लेकिन क्या जानता है तू? क्या मतलब है तीर्थ का? तीर्थ है वह स्थान। जो इस पार नहीं है बल्कि उस पार है। यह जो भव-सागर है। दुनिया के रूप में। उसको जो कर लेता है तैर करके पार। वही व्यक्ति पहुंच पाता है। उस वास्तविक तीर्थ को। जो तेरी दुनिया के सागर के है उस परले पार।

'जानता ही होगा तू। कि जब तूने जन्म लिया तेरी इस दुनिया में। तब भी तू था निर्वस्त्र नंगा। बिना किसी बटुए या पर्स के। और बिना किसी खाद्य-सामग्री से भरे कनस्तर के। तो जब तू इस अपनी दुनिया में करता है तैयारी। तीर्थ की यात्रा की। तो तुझे पुनः बनना पड़ेगा। धनहीन, साधनहीन तथा आवरणहीन। अर्थात् जिसके पास कुछ भी नहीं है। छिपाने के लिए। अर्थात् तुझे अपनानी होगी एक व्यापक नग्नता। और जब तू अपना लेगा। ऐसी व्यापक नग्नता। तो तू पा लेगा तीर्थ को स्वयं ही। उस किसी भी स्थान पर। जहां तू करता होगा निवास। तेरी ही अपनी वर्तमान दुनिया में।

'मैंने जो ली है परीक्षा तेरी। तेरे तीर्थत्व की। उसमें तू हो गया है अभी अनुत्तीर्ण। क्योंकि तीर्थ का अर्थ है तीर्णता। अर्थात् तैरना तथा हो जाना पार मोह तथा माया से। अतः ले तू तेरा यह लंबा कोट। जिसमें है सुरक्षित तेरा वही बटुआ अर्थात् पर्स। और साथ में ही ले तू। तेरा वह कनस्तर। तेरी खाद्यसामग्री से पुनः भरा हुआ। और लौट जा अब यहां से।

'जा तू। अपनी दुनिया को एक बार और। तब तक भोग। जब तक मिट नहीं जाता है। तेरा यह अहंकार का। तेरा यह आसक्ति का। तेरा यह आकांक्षा का। और तेरा यह आवरण का। भवरोग।'

तो करता मैं क्या? लौटकर आया हूं और सुना दिया है आपको भी मैंने वह सपना अपना। चाहे आप उसके लिए धन्यवाद दें या नहीं दें।

❖

गांधी ने रामराज्य की कल्पना की थी, पर मैं सिर्फ 'रामराज्य' नहीं चाहता हूं। मैं 'सीता-राम राज्य' चाहता हूं। यदि भारतीय समाज में घर-घर 'सीता-राम राज्य' पहुंच जाए तो पति-पत्नी के आपसी रिश्ते भी अच्छे होंगे।

—राममनोहर लोहिया

गणतंत्र दिवस पर विशेष

लोकतंत्र : स्वतंत्रता और गरिमा

❑ डा. बच्छराज दूगड़ ❑

लोकतंत्रीय प्रणाली मानव स्वभाव के लिए चुंबकीय आकर्षण है। स्वतंत्रता मनुष्य का निसर्ग है। उसका समर्थन कर लोकतंत्र ने मानव-मन को जीता है। स्वतंत्रता का आधारभूत पहलू है—संयम। संयम की उपेक्षा ने ही स्वतंत्रता को मलिन महत्त्वाकांक्षा के रूप में बदल दिया है। महत्त्वाकांक्षा और क्षमता (गुणवत्ता पर आधारित) का संतुलन न हो तो क्या ऐसी महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति को पथभ्रष्ट नहीं करेगी? वर्तमान में लोकतंत्र की राजनीति ने महत्त्वाकांक्षा को तो पकड़ा है, पर गुणवत्ता–आधारित क्षमता की उपेक्षा हुई है। इसीलिए राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने की दिशा में वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व प्रस्थित नहीं हो रहा है, उसका प्रस्थान सत्ता की कुर्सी की ओर हो रहा है।

लोकतांत्रिक प्रणाली और दर्शन अनेकतावादी हैं और वे प्रत्येक व्यक्ति को बेजोड़ मानते हैं। लोकतंत्र का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति विलक्षण है। व्यक्तित्व का समादर तथा उसका विकास न केवल उसकी स्वयं की उन्नति के लिए आवश्यक है, अपितु समाज के लिए भी आवश्यक है। व्यक्ति अपने अद्वितीय व्यक्तित्व द्वारा समाज को अनुपम योगदान कर सकता है। ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से न केवल समाज को, न केवल राष्ट्र को बल्कि विश्व को भी प्रभावित किया है। उनके अनुपम योगदान को आज भी यह विश्व याद करता है। लोकतंत्र की यह मान्यता है कि ऐसी विलक्षण क्षमता का विकास हर व्यक्ति कर सकता है, उसे इसकी पूर्ण स्वतंत्रता है।

लोकतंत्र का यह भी विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम पद पर पहुंचने का अधिकारी है और राज्य-शासन में हर व्यक्ति का बराबर का हिस्सा है। प्रत्येक व्यक्ति सामर्थ्य के आधार पर समान है, पर क्षमताओं के विकास का तारतम्य हर प्राणी में भिन्न-भिन्न है। व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार करने से ही राष्ट्र-शासन में उसकी भागीदारी को स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा विश्व में आज भी अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जहां मानवीय गरिमा का हनन होता है, जहां मानवता सिसकती है। ऐसे राष्ट्र-शासन में हिस्सा लेना तो लोगों के लिए एक स्वप्न ही होता है। विश्वशांति व स्वस्थ लोकतंत्र के लिए मानवीय गरिमा को आदर देना होगा।

लोकतंत्र में व्यक्ति जो कुछ भी है, वह अपने स्वयं के ही कारण है—न कि वंश-परंपरा, जाति, धर्म अथवा किन्हीं अन्य बाह्य कारणों के फलस्वरूप। व्यक्ति जो कुछ बनना चाहता है, वह अपने प्रयत्न-पुरुषार्थ से बन सकता है। इसीलिए इनकी शिक्षा-दीक्षा में अध्यवसाय, स्वावलंबन, धैर्य, आत्म-विश्वास जैसे गुणों के विकास पर जोर दिया जाता है। इसी तरह आर्थिक विकास की दृष्टि से परिश्रम, श्रम-निष्ठा, आलस्य के प्रति घृणा आदि भावों को भी विकसित किया जाता है। राजनीतिक दृष्टि से लोकतंत्रीय आदर्शों के प्रति निष्ठा, कर्तव्य व अधिकारों के प्रति समर्पण आदि भावों को जागृत किया जाता है। इन गुणों के विकास के लिए सार्वभौम शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, जिससे कि प्रत्येक बालक की विकास-संबंधी संभावनाओं का पता लगाया जा सके। इन संभावनाओं के आधार पर ही व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं करता है।

प्रख्यात विचारक कांट ने मनुष्य की स्वतंत्रता और उसके सम्मान से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है। उनका यह सूत्र लोकतंत्र का प्राण कहा जा सकता है—'व्यक्ति को सदा ही साध्य समझा जाना चाहिए, किसी साध्य का साधन नहीं।' उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—'इस प्रकार कार्य करो कि स्वयं तुम में तथा दूसरों में निहित मनुष्यता साधन-मात्र न रहकर सदैव अपने-आपमें साध्य बनी रहे।' कांट का यह मत बताता है कि हमें अपनी तथा साथ ही दूसरों की स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा का पूर्ण

सम्मान करना चाहिए। इस तरह हमें अपने को केवल इच्छातृप्ति का तथा अन्य व्यक्तियों को भी केवल अपनी इच्छातृप्ति का साधन-मात्र कदापि नहीं मानना चाहिए।

विचारशील प्राणी होने के नाते प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा गरिमा है। अतः अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए किसी अन्य की इच्छा या स्वतंत्रता को कुचलने का किसी को अधिकार नहीं है। ठीक इसी तरह किसी व्यक्ति को यह अधिकार भी नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों की इच्छाओं को तृप्त करने के लिए स्वयं अपने-आपको साधन बनाकर अपने गौरव एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व को नष्ट करे। अलबत्ता दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति के साधन बनने की मनाही नहीं, यदि वह कार्य कर्तव्य-बोध से प्रेरित होकर किया जाए। पर विवशतावश अपने-आपको अथवा दूसरों को साधन मात्र मान लेना और स्वयं विवश होकर दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति करना अथवा अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों को विवश करना—मानवीय गरिमा का साफ तौर पर हनन करना है। इसी आधार पर दासता, शोषण, धोखा, बलात्कार, हत्या आदि अनैतिक कार्य माने जाते हैं। क्योंकि इन सबमें मानवीय गरिमा का स्पष्टतः हनन होता है, अनादर होता है।

महान विचारक बर्टण्ड रसल ने कहा था—'चूंकि मानव-प्रगति के मार्ग में एकतंत्रीय सत्ता विविध रूपों में सदैव बाधक रही है, इसलिए मानव जाति के लिए उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता व गरिमा के आदर की सर्वाधिक आवश्यकता रही है। साम्यवाद व फासीवाद इसलिए उपेक्षणीय हैं क्योंकि वे वैयक्तिक स्वतंत्रता और व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व नहीं देते।' रसल ने यह भी कहा कि—'हम तब तक सत्य पर नहीं पहुंच सकते जब तक कि मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित आदर नहीं दें। क्योंकि इसके अभाव में हमें स्वतंत्र विचार एवं तर्क प्राप्त ही नहीं हो सकते।' मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित सम्मान देने का अर्थ है—व्यक्ति की रचनात्मक कार्यशक्ति को प्रेरित करना। जहां एक व्यक्ति दूसरे का शोषण करता हो, एक का पेट भरा व अन्यों का खाली हो तो ऐसी परिस्थितियों में मानवीय स्वतंत्रता का कोई औचित्य नहीं है।

मनुष्य जाति एक है—यही मानवीय गरिमा का आधार हो सकता है। इस सिद्धांत की स्वीकृति के पश्चात् किसी के अधिकारों का हनन, किसी को मारना, कष्ट पहुंचाना, शोषण करना, तिरस्कार करना, प्रकारांतर से क्या स्वयं को ही मारने, सताने या कष्ट पहुंचाने का प्रयत्न नहीं होगा? जैन आगमों ने स्पष्ट घोषणा की है—'पुरुष! जिसे तू हननयोग्य मानता है, जिसे तू परितापयोग्य मानता है—वह तू ही है।' इस आत्मतुला की भूमिका पर ही मानवीय गरिमा समादृत हो सकती है, पुरस्कृत हो सकती है। जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, प्रांत, राष्ट्र, सत्ता आदि भेदों को यथार्थ व मुख्य मानकर पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और न्याय की हत्या करना मानवीय मूल्यों की ही हत्या है। यह मानवीय गरिमा का अपमान है। किसी को हीन, शोषणयोग्य या साधन मानना स्वयं की ही हीनता है। ये भेद प्रकृतिगत नहीं हैं, बल्कि मनुष्यों द्वारा ही निर्मित हैं। अतः यदि हम हर मनुष्य, हर प्राणी को आत्मवत् समझें तो मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व के प्रति आदर सहज ही घटित होगा।

लोकतंत्र की अपनी समस्याएं भी हैं। एक समस्या है—अक्षम शासन। जहां गुणवत्ता को महत्त्व नहीं मिलता वहां अक्षम व्यक्ति भी शासन के कर्णधार हो जाते हैं। लोकतंत्र के साथ जो अक्षमता का अभिशाप जुड़ा, उसमें गुणवत्ता को अवकाश नहीं रहा। मानवीय गरिमा गिरती गई, लोकतंत्र कमजोर होता गया। जहां समानता की बात है वहां गुणवत्ता पर ध्यान कम होगा, व्यक्ति-संख्या पर अधिक केंद्रित होगा। इस पर ध्यान केंद्रित नहीं होता कि गुणवत्ता अधिकाधिक आए, किंतु यह चिंतन ही प्रबल होगा कि संख्या में सबसे ज्यादा 'हमारे' हों।

लोकतंत्र की ऐसी समस्याओं के बावजूद भी इसमें प्रत्येक व्यक्ति को यह आश्वासन भी है कि यदि अपनी योग्यता और क्षमता को बढ़ाए तो कोई भी व्यक्ति शीर्ष तक पहुंच सकता है। निःसंदेह ताकत व भ्रष्ट तरीकों से शीर्ष तक पहुंचने की स्वतंत्रता भी लोकतंत्र में परिलक्षित हो रही है।

लोकतंत्रीय प्रणाली मानव स्वभाव के लिए चुंबकीय आकर्षण है। स्वतंत्रता मनुष्य का निसर्ग है। उसका समर्थन कर लोकतंत्र ने मानव-मन को जीता है। स्वतंत्रता का आधारभूत पहलू है—संयम। संयम की उपेक्षा ने ही स्वतंत्रता को मलिन महत्त्वाकांक्षा के रूप में बदल दिया है। महत्त्वाकांक्षा और क्षमता (गुणवत्ता पर आधारित) का संतुलन न हो तो क्या ऐसी महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति को पथभ्रष्ट नहीं करेगी? वर्तमान में लोकतंत्र की राजनीति ने महत्त्वाकांक्षा को तो पकड़ा है, पर गुणवत्ता–आधारित क्षमता की उपेक्षा हुई है। इसीलिए राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने की दिशा में वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व प्रस्थित नहीं हो रहा है, उसका प्रस्थान सत्ता की कुर्सी की ओर हो रहा है।

लोकतंत्र के साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अटूट साझा है। लोकतंत्र ने स्वतंत्रता को जो मूल्य दिया है, इसका उपयोग समानता के स्तर पर कम हुआ है। जातीयता, सांप्रदायिकता आदि बंधनों से जकड़े व्यक्ति स्वतंत्रता का पूरा उपयोग बेहतरीन तौर पर नहीं कर पाते। हम देखते हैं कि चुनावों के समय राजनीतिक शुद्धता नीचे दब जाती है। जातीयता और सांप्रदायिकता उभर आती हैं। व्यक्ति स्वयं अपनी गरिमा खो देता है। स्वतंत्रता का हनन होता प्रतीत होता है।

अर्थ-लोलुपता और सत्ता का भय आदि दुर्बलताएं भी स्वाभाविक रूप से व्यक्ति में होती हैं। इनके परिष्कार से ही चरित्र उदात्त बनता है। लोकतंत्र के नायकों ने इनके परिष्कार की किसी विधि का विकास नहीं किया। दीर्घकाल से चल रही लोकतंत्रीय प्रणाली ने जन-मानस को लोकतंत्र की दीक्षा में दीक्षित नहीं किया। लोकतंत्र के नायकों को राष्ट्र चलाने का कोई प्रशिक्षण नहीं दिया गया।

लोकतंत्र की समस्याओं के समाधान के लिए संयम व समता की शिक्षा आवश्यक है, प्रशिक्षण आवश्यक है, एकाग्रता और धैर्य आवश्यक है। यह संयम ही लोकतंत्र की प्रणाली को परिष्कृत कर व्यक्ति की गरिमा को अक्षुण्ण रख सकता है। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

तार : तेरापंथी • दूरभाष : 235-7956/7269

महासभा के 88 वें वार्षिक अधिवेशन की सूचना

महोदय,

महासभा का 88वां वार्षिक अधिवेशन आगामी मिति माघ शुक्ला 6 दिनांक 18 फरवरी, 2002 को सायं 7.00 बजे पचपदरा (राजस्थान) में होगा, जिसमें निम्न विषयों पर विचार होगा—

- महासभा के 87वें वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही का पठन व स्वीकृति।
- महासभा के 88वें वर्ष के महामंत्री के वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार व स्वीकृति।
- महासभा के हिसाब परीक्षक द्वारा अंकेक्षित, महासभा का 1 अप्रैल, 2000 से 31 मार्च 2001 तक के आय-व्यय लेखा की स्वीकृति।
- आगामी दो वर्ष के लिए महासभा के अध्यक्ष, ट्रस्ट बोर्ड के ट्रस्टीगण, महासभा के बोर्ड ऑफ आरबीट्रेटर के सदस्यों का चुनाव।
- महासभा के आगामी दो वर्षों के लिए अंकेक्षक की नियुक्ति।
- आए हुए प्रस्तावों एवं सुझावों पर विचार।
- विविध—अध्यक्ष महोदय की अनुमति से।

महासभा के वार्षिक अधिवेशन में सभी सदस्यों की उपस्थिति सादर प्रार्थित है।

भवदीय

भंवरलाल सिंघी

महामंत्री

कहानी

अलिखित कहानी

❑ अज्ञेय ❑

'यह सब, उन्होंने इस रूप में नहीं देखा, या देखा भी तो बहुत जल्द भुला दिया। मानव के मस्तिष्क में एक ऐसी शक्ति है, जो कठोर सत्य का ग्रहण करती है तो पहले उसे कोमल बना लेती है, अपने अनुकूल कर लेती है, अपने बड़प्पन के आगे झुका लेती है। वही तुलसीदास के मन में भी हुआ और वे नहीं जान पाए कि उनकी इस आस्तिकता का, इस धर्मपरायणता का, इस ईश्वरोन्मुख भक्ति, इस परमानंद का मूलोद्भव कहां से हुआ है...'

मैं अपनी गृहलक्ष्मी से लड़कर अपने पढ़ने के कमरे में आकर बैठा हुआ था और कुढ़ रहा था।

लड़ाई मैंने नहीं की थी और निरपेक्ष दृष्टि से देखते हुए कहना पड़ता है कि शायद उसने भी नहीं की थी। वह अपने आप ही हो गई—या यों कह लीजिए कि जैसी परिस्थिति हमारी है, उसमें लड़ाई होना स्वाभाविक ही है, उसका न होना ही अचंभे की बात है।

मैं कोई बड़ा आदमी नहीं हूं—पता नहीं आदमी भी हूं कि नहीं!—मैं हिंदी का कहानी लेखक हूं। और मेरी गृहलक्ष्मी एक हिंदी लेखक की गृहलक्ष्मी हैं—हिंदी लेखकों का और किसी लक्ष्मी से परिचय कब होता है। हम दोनों का जीवन बिल्कुल नीरस है। इसके अलावा कुछ हो भी नहीं सकता। और इसीलिए हमारी लड़ाई अवश्यंभावी है...

क्योंकि, मैं कभी-कभी यत्न करता हूं, अपनी कहानी के 'एटमास्फियर' द्वारा उस नीरसता को दूर कर दूं जो हमारे जीवन में समा रही है। पर मेरी पत्नी यह नहीं कर सकती, उसका जीवन उस नीरसता में, गृहलक्ष्मी की सामान्य दिनचर्या में ऐसा जकड़कर बंधा हुआ है कि वह हिल-डुल भी नहीं सकती—अगर कभी हिलने की चेष्टा करे तो उसी दिन हम दोनों को रोटी न मिले—घर में चूल्हा ही न जले...और मैं कभी यह भी यत्न करता हूं कि अपने को कहानी के 'एटमास्फियर' में न भुलाकर कहानी का 'एटमास्फियर' ही घर में ले आया जाए, ताकि हम दोनों उसका रस ले सकें, किंतु तब लड़ाई हो जाती है...

जैसे आज हुई। मैं एक प्रेम-कहानी लिखता उठा था, प्रेम की भावुकता से छलकती हुई, और उसके कुछ वाक्य मेरे कानों में अभी गूंज रहे थे...मैं एकाएक उठकर रसोई में गया, देखा, गृहलक्ष्मी अनारदाना पीस रही है। इससे मैं तनिक हतप्रभ नहीं हुआ, उसे संबोधन करके वे वाक्य दुहराने लगा.... उसने विस्मय से मेरी ओर देखा, फिर झुंझलाकर बोली, 'यह सब काम करना पड़ता तो पता लगता—'

यदि मैं इतने से ही घबरा जाता, तो क्या खाक प्रेमिक होता? मैं और भी कहने लगा—

उसे गुस्सा आ गया। बोली, 'तुम्हें शर्म भी नहीं आती। मैं काम करती मरी जाती हूं, घर में एक पैसा नहीं है, और तुम बहके चले जा रहे हो जैसे मैं कोई थियेटर की—'

मुझे ऐसा लगा, किसी ने थप्पड़ मार दिया हो। मेरा सब आह्लाद मिट्टी हो गया, मुझे जो भयंकर क्रोध आया उसे मैं कह भी नहीं सका, चुपचाप अपने पढ़ने के कमरे में आ गया और सोचने लगा...

मुझे सूझा, घर को—इस प्रवंचना और कुढ़न के पुंज को जो घर के नाम से संबोधित होता है—छोड़कर चला जाऊं! पर, यदि इतने साधन होते कि घर छोड़कर जा सकूं, तो घर ही में न सुख से रह सकता! यही सोचते-सोचते मेरा क्रोध गृहलक्ष्मी पर से हटकर अपने ऊपर आया। वहां से हटकर अपने काम पर और फिर संसार पर जाकर कहीं धीरे-धीरे खो गया, मैं केवल कुढ़ता रह गया....

ऐसे ही, ऊंघने लगा। ऊंघते-ऊंघते मुझे याद आया, तुलसीदास भी अपनी स्त्री के मुख से ऐसी एक बात सुन

कर विरक्त हो गए थे और तुलसीदास बन गए थे! और एक मैं हूं...मुझे सूझा, इस विभेद को कहानी में बांधकर रखूं, अपने जीवन की सारी विवशताएं उसमें रख दूं...

नींद आने लगी। मैंने मेज पर पड़ी हुई किताबों को एक ओर धकेलकर, सिर रखने की जगह निकाली, और वहीं मेज पर सिर टेककर सो गया...

नींद खुली, तो उस ढेर में से एक किताब खींची और विमनस्क-सा होकर उसके पन्ने उलटने लगा। एकाएक मेरी दृष्टि कहीं अटकी और मैं पढ़ने लगा...

'तुलसीदास के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी वह, जब वे अपनी पत्नी के घर गए और उसकी फटकार सुनकर एकाएक विरक्त हो गए। इसी घटना ने उनके जीवन को बना दिया, उन्हें अमर कर दिया, नहीं तो वे उन साधारण सुखी सामान्य प्राणियों की तरह जीवन व्यतीत करते जो अपनी जीवन-संध्या में देखते हैं कि उनके जीवन में कोई कष्ट नहीं हुआ, किंतु साथ ही महत्त्व की बात भी कोई नहीं। उनका जीवन सुखी रहा है उनके लिए, किंतु संसार के लिए—फीका, व्यर्थ, निष्फल...

'पुरुष-प्रेम की स्वाभाविक गति है स्त्री की ओर, किंतु जब वह चोट खाकर उधर से विमुख हो जाता है, तब वह कौन-कौन-से असंभव कार्य नहीं कर दिखाता...'

'किंतु वह तभी, जब उसे इसके अनुकूल क्षेत्र मिले। ऐसा भी होता है कि वह चेष्टाएं करके रह जाता है, स्त्री से विमुख होकर भी वह अपने को ऐसा आबद्ध पाता है कि और किसी ओर नहीं जा पाता, बढ़कर मर जाता है।'

'इसी तथ्य को लेकर इस कहानी के लेखक ने यह छोटी-सी कहानी गढ़ी है।'

यह क्या? जो कहानी मैं लिखने को था, वह पहले लिखी जा चुकी है? और एक बिल्कुल अज्ञात लेखक द्वारा, जिसकी कहानी समझाने के लिए संपादक को इतनी लंबी भूमिका बांधनी पड़ी है?

मैं समझा था, यह मेरी ही अभूतपूर्व सूझ है, मेरी सर्वथा अपनी रचना, जो मेरा नाम अमर कर देगी, किंतु वह भी दूसरे को सूझ चुकी है, दूसरे द्वारा लिखी और प्रकाशित की जा चुकी है, एक अज्ञात लेखक द्वारा! हाय अत्याचार!

मैं पन्ना उलटकर वह कहानी पढ़ने लगा...

1

'जो कहानी केवल कहानी-भर होती है, उसे ऐसे लिखना कि वह सच जान पड़े, सुगम होता है। किंतु जो कहानी जीवन के किसी प्रगूढ़ रहस्यमय सत्य को दिखाने के लिए लिखी जाए, उसे ऐसा रूप देना कठिन नहीं, असंभव ही है। जीवन के सत्य छिपे रहना ही पसंद करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं होते। उन्हें दिखाना हो तो ऐसे ही साधन उपयुक्त हो सकते हैं जो उन्हें प्रत्यक्ष न करें, छिपा ही रहने दें, जो छायाओं और लक्षणों के आधार पर उसका आकार विशिष्ट करदें, और बस...

'इसीलिए मैं अपनी इस कहानी को ऐसे अत्यंत असंभाव्य रूप में रखकर सुना रहा हूं, इस आशा में कि जो सत्य मैं कहना चाहता हूं, वह इस रूप में शायद रखा जा सके, पाठक के आगे व्यक्त नहीं तो उसकी अनुभूति पर आरूढ़ किया जा सके...

'हां तो, कहीं, समझ लीजिए कि आख्योपन्यास की किसी रात के वातावरण से घिरे हुए किसी नगर में दो युवक रहते थे। उनकी विशेषता यह थी कि दोनों का जन्म एक ही दिन हुआ था, उनके आकार-प्रकार भी बिल्कुल एक-से थे, और उनका नाम भी एक ही था। लोग कहते थे कि वे जुड़वां बच्चे थे, किसी देवता के वर या शाप से अलग-अलग घरों में उत्पन्न हो गए थे। वे शैशव से ही परस्पर आकृष्ट रहते थे, फिर तब से इकट्ठे खेले और पले थे...

'ऊपर कह आए हैं कि उनका नाम भी एक ही था। इस प्रकार इनकी इस संपूर्ण समरूपता का खंडन करने वाली एक ही बात थी—एक धनिक की संतान था और एक दरिद्र की। बस यही एक विभेद था उनके जीवन में। यद्यपि इसके फलस्वरूप एक और भी भेद आ गया था उनके नाम में...दोनों के माता-पिता ने उनका नाम रखा था तुलसी, किंतु एक धनिक होने के कारण तुलसीदास कहाता था और दूसरा दरिद्र का पुत्र होने के कारण तुलसू के नाम से पुकारा जाता था...'

'यह सब तो हुई पूर्व की बात। हमारी कहानी का आरंभ इन दोनों के विवाह के बाद से होता है। हम कह चुके हैं कि इन दोनों का जीवन बिल्कुल एक-सा था, वे पढ़े भी एक साथ ही थे। और उसके बाद दोनों की रुचि भी साहित्य की ओर हो गई थी। और पढ़ाई के समाप्त कर चुकने पर एक ही दिन दोनों के विवाह भी हो गए थे, दोनों अपनी पत्नियों पर संपूर्णतः आसक्त थे...'

'इतनी अधिक समरूपता संसार में मार्के की चीज है, दैवी देन है, इसलिए यह आशा करनी चाहिए थी कि दोनों

को पत्नियां भी एक-सी ही मिलेंगी। और ऐसा ही हुआ भी, पत्नियों का साम्य भी उन्हीं की भांति था और उन दोनों का नाम भी एक ही था।'

'खैर। विवाह के बाद की बात है, एक दिन दोनों नवयुवकों को एक साथ ही विचार आया कि पत्नी के बिना घर बिल्कुल नीरस है, पत्नी ही घर की लक्ष्मी है और पत्नी ही सरस्वती भी, क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में काव्योचित 'इंस्पिरेशन' भी नहीं प्राप्त होता। अतः दोनों उठे और एक साथ ही चल दिए अपनी पत्नियों को लिवाने—वे उससे दो-चार दिन पहले ही मायके गई थीं...'

'दोनों एक ही पथ पर इकट्ठे ही जा रहे थे, क्योंकि दोनों की ससुराल एक ही स्थान पर तो थी, साथ-साथ के घरों में।'

'अब, यह तो पाठक जान ही गए होंगे कि ये दोनों, तुलसीदास और तुलसू, युवक होने के कारण मनचले भी थे, और कवि होने के कारण लापरवाह और उद्धत। बस, दोनों ने ससुराल में घुसकर उचित-अनुचित का विचार तो किया नहीं, प्रणाम-नमस्कार के झमेले में पड़े नहीं, सीधे अपनी पत्नियों के कमरे में चले गए और उनकी काव्यमयी स्तुति करने लगे—उन्हें घर लिवा ले चलने के लिए।'

'पत्नियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। एक तो स्त्रियों को वैसे ही रीति-रस्म का, बड़े-छोटे का, परदे-दिखावे का, ध्यान अधिक रहता है, दूसरे ये पत्नियां कोई कवि तो थीं नहीं, जो उस मधुर काव्यमयी प्रेरणा को समझतीं जो दोनों युवकों को वहां घसीट लाई थी, या समझकर उसका आदर करतीं, उसे अपनातीं और स्वयं उसके आगे नमित होकर वैसी ही निर्लज्ज हो जातीं! उन्हें अपने पतियों की यह बात बहुत बुरी लगी। क्रोध भी आया, ग्लानि भी हुई। उन्होंने सोचा, इन्हें फटकारना चाहिए।'

'किंतु, स्त्रियां यह भी तो जानती हैं—अपने हृदय के गुप्ततम कोने में अनुभव करती हैं—कि प्रेम को फटकारा नहीं जा सकता, वह इतना विशाल, इतना सर्वव्यापी और सब कुछ होते हुए इतना निराकार है...उसे फटकारा कैसे जाए?'

'तब उन्हें सूझा, इसके लिए कोई ऐसी वस्तु चाहिए जो इससे भी विशाल, इससे भी सर्वव्यापी, इससे भी निराकार है, यानी परमेश्वर...यानी, परमेश्वर की दुहाई देकर इन्हें फटकारना चाहिए। और तब दोनों ने एक भर्त्सना-भरे दोहे में (क्योंकि कवियों की भर्त्सना करनी थी, जो भला गद्य में कैसे होगी?) पतियों को खूब फटकारा।'

'दोनों पति अपने भीतर प्रेम की एक पीयूष-सलिला बहती हुई लेकर आए थे, किंतु उन्होंने देखा, इस भर्त्सना से वह एकाएक सूख गई, बंद हो गई! उन्होंने हृदय टटोलकर देखा, वहां था एक विशाल मरु, और कुछ नहीं, कुछ नहीं...'

'और वे विरक्त होकर उलटे पांव लौट पड़े, बिना अपनी पत्नियों से एक शब्द भी कहे, सिर झुकाए, आहत...'

'घर से बाहर, दोनों का सामना हुआ। दोनों ने एक बार एक-दूसरे को आंख भरकर देखा, कुछ बोले नहीं, फिर दोनों अपने घरों की ओर चल दिए, किंतु एक साथ नहीं, अलग-अलग। तुलसीदास चले सड़क की दाईं ओर, और तुलसू बाईं ओर। और उनके मध्य का वह थोड़ा-सा व्यवधान ऐसा हो गया, मानो वह ब्रह्मांड के विस्तार का दीर्घतम व्यास है, और वे दोनों उसके छोरों पर बंधे हुए, निकट नहीं आ सकते...'

'और ऐसे ही, वे अपने-अपने घर जा पहुंचे।'

2

'वह जो दैवी देन थी, मानो लुट गई, मानो उस भर्त्सना-भरे दोहे के दाह में भस्म हो गई। तुलसीदास और तुलसू के जीवन बिल्कुल एक-दूसरे से अलग हो गए...उसमें अगर कुछ समता रह गई तो उनका भूत, जो मर चुका था। और उनके भविष्य...'

'यहां से उनकी कहानी अलग-अलग कहना ही ठीक है।'

'तुलसीदास ने घर पहुंचकर निश्चय किया, अब वे कभी स्त्री का नाम भी नहीं लेंगे, मुंह देखना तो दूर। उनका सारा मस्तिष्क स्त्री-मात्र के प्रति एक विरक्त ग्लानि-भाव से भर गया। उनके जीवन की फिलासफी, जो अब तक स्त्रियोन्मुख थी, अब उधर से विमुख हो गई। उन्होंने देखा, स्त्री केवल पुरुष के पतन का एक साधन है, एक मिथ्या मोह, जिससे बचना, जिसकी ताड़ना करना, जिसे जीवन से उन्मूलित करना, पुरुष का परम कर्तव्य है...स्त्री, कुबुद्धि, कुमंत्रणा, वासना, पाप, अधोगति, ईश्वर-विमुखता, नास्तिकता, ये सब एक ही तथ्य के विभिन्न मायाजनित रूप हैं, जिन्हें हम भ्रमवश विभिन्न नाम देते हैं...और यह निश्चय करके, स्त्री की नीचता और अयोग्यता और ताड़न-पात्रता पर विश्वास करके, वे खोजने लगे कि अब संसार में क्या है, जिससे अपनी जीवन-नौका बांधी जाए, क्योंकि बिना सहारे वह ठहर नहीं सकती! और उन्होंने पाया कि स्त्री से बढ़कर व्यापक कोई वस्तु अगर हो सकती है तो ईश्वर ही।

जो स्त्री से विमुख है वह अगर अपनी समूची शक्ति ईश्वर की भावना को पकड़ रखने में नहीं लगाता तो वह इस संसार-रूपी विराट शून्य में खो जाएगा, उसका निस्तार किसी भांति नहीं हो सकता...उन्होंने देखा, जो विरक्त होकर ईश्वरवादी रहते हैं या होते हैं, वे इसलिए नहीं होते कि ईश्वर है, या वे आस्तिक हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें विवश होना पड़ता है, स्त्रीत्व-भावना, प्रेम-भावना को न मानने पर उनके लिए एकमात्र पथ यही रहता है कि ईश्वर-भावना के आगे सिर झुकाएं, क्योंकि कहीं तो सिर झुकाना ही पड़ता है...'

'यह सब, उन्होंने इस रूप में नहीं देखा, या देखा भी तो बहुत जल्द भुला दिया। मानव के मस्तिष्क में एक ऐसी शक्ति है, जो कठोर सत्य का ग्रहण करती है तो पहले उसे कोमल बना लेती है, अपने अनुकूल कर लेती है, अपने बड़प्पन के आगे झुका लेती है। वही तुलसीदास के मन में भी हुआ और वे नहीं जान पाए कि उनकी इस आस्तिकता का, इस धर्मपरायणता का, इस ईश्वरोन्मुख भक्ति, इस परमानंद का मूलोद्भव कहां से हुआ है...'

'खैर। तुलसीदास ईश्वर-सेवा का व्रत लेकर घर से निकल पड़े। देशाटन करने लगे, देश के विभिन्न विद्यापीठों और बौद्धिक संस्थाओं को देखकर अपना ज्ञान और अनुभव बढ़ाने लगे... वे जहां जाते, उनका स्वागत होता, लोग उन्हें अपने रहस्य दिखाते और उनकी सम्मति मांगते, क्योंकि वे एक तो संपन्न, दूसरे प्रतिभाशील, तीसरे यौवन में ही विरक्त और इसलिए अधिक आकर्षक, और इस प्रकार सर्वथा आदरणीय थे... जब वे बहुत-कुछ देख चुके और उन्होंने पाया कि वे काफी विद्या और कीर्तिलाभ कर चुके हैं, तब उन्होंने बौद्धिक संस्थाओं का भ्रमण छोड़ तीर्थाटन करना आरंभ किया; विभिन्न स्थानों के मंदिर देख-देखकर, वहां के भव्य, शांत, सौरभ-भार से सुंदर, घंटा-ध्वनि और आरती-द्युति से एक प्रकंप आह्लादमय वातावरण से उत्पन्न होने वाली अकथ जागृति को कविता-बद्ध करने लगे। धीरे-धीरे उनकी कीर्ति बहुत फैल गई, उनके कई-एक शिष्य भी हो गए, तब उन्होंने बनारस में आकर विश्राम किया और वहीं एक विद्यापीठ या आश्रम स्थापित करके, अपने शिष्यों को एक महाकाव्य लिखाना आरंभ किया जो कि संसार को स्त्री-प्रेम से परे खींचकर, भक्तिरस से परिप्लावित कर देगा, जो श्रीराम के भक्तों के लिए वेद से बढ़कर महत्त्व रखेगा, और जो तुलसीदास का नाम, और गौणरूपेण उन की पत्नी का नाम (जिसका वे उच्चारण भी नहीं करते) अमर कर जाएगा...तुलसीदास प्रौढ़ हो गए हैं, धीरे-धीरे वृद्ध भी हो जाएंगे, फिर भक्तिरस से अनभिज्ञ मृत्यु आकर उन्हें उठा ले जाएगी, किंतु जीवन के पट पर वे अमिट अक्षरों में अपना जो नाम लिख जाएंगे, उसे कोई मेट सकता है?'

3

'और तुलसू...'

'वह थका-मांदा भूखा घर पहुंचा और अपनी झोंपड़ी के एक कोने में पड़ी फटी चटाई पर बैठकर सोचने लगा, वह मेरे जीवन की चंद्रिका किस बादल में उलझकर लुप्त हो गई...प्रतिभा कहां गई...'

'उसने भी देखा, स्त्री कितनी भयंकर शक्ति है, कितनी व्यापक, कितनी अमोघ! उसने भी देखा, वह मानव को घेरे हुए है, घेर कर अटूट पाशों में बांधे हुए है...'

'उसके भी खिन्न और विरक्त और आहत मन ने कहा, स्त्री एक बंधन है, उसे काट फेंको! जाओ, संसार तुम्हारे सामने खुला पड़ा है, प्रतिभा तुम्हारे पास है। एक स्त्री के एक वाक्य के पीछे अपना जीवन खोओगे? उठो, देखो, संसार कुम्हार की मिट्टी-सा निकम्मा और आकार-हीन पड़ा है, उसे बनाओ, किसी सांचे में ढालो, अपने स्त्री-विमुख किंतु प्रोज्ज्वल शक्ति-संपन्न प्रेम की भट्ठी में पकाकर उसका कुछ बना दो! और अमर हो जाओ!'

'किंतु तुलसू ने यह भी देखा, उसके बूढ़े माता-पिता उसकी ओर उन्मुख हुए मानो आंखों से ही कोई संदेश उसे पहुंचा रहे हैं, जिसमें पितरोचित आज्ञापना नहीं, एक दरिद्र अनुरोध, एक करुण भिक्षा-सी है...उसने देखा, वे भूखे हैं और उसका कर्तव्य है उन्हें खिलाना-पिलाना, उनकी सेवा करना, उनके लिए मेहनत करना और उसमें अगर अपनी प्रतिभा का उपयोग अपने उच्चतम आदर्श को छोड़कर किसी छोटे काम के लिए करना पड़े तो उसे चुपचाप स्वीकार करना...'

'और. उसने यह किया। वह विवश होकर भजन-मंडलियों, रास-अभिनय करने वाली टोलियों, कथावाचकों के लिए भजन, गीत इत्यादि लिखने लगा, जिससे उसकी, उसके माता-पिता की, जीविका चल सके...और उसने देखा ज्यों-ज्यों वह अधिकाधिक मेहनत करता है, अधिकाधिक उग्र प्रयत्न से वैसे गान, वैसे भजन लिखता जाता है, जैसे उससे मांगे जाते हैं, त्यों-त्यों उसकी प्रतिभा नष्ट होती जाती है, त्यों-त्यों यह यंत्र-तुल्य काम भी कठिनतर और कष्टसाध्य होता जाता है...और अंत में एक दिन ऐसा

आया, जब उसने देखा, वह कुछ भी नहीं लिख सकता—वे भद्दे कवित्वहीन 'इडियोटिक' गीत भी नहीं, जिन मात्र की उससे आशा की जाती है, जब उसने देखा, वह अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करके भी माता-पिता की सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रतिभा वहां है ही नहीं—वह एक मिथ्या, एक प्रवंचना थी जो इस सूक्ष्म-काल में उसे छोड़कर चली गई है, जब उसने देखा, वह अकेला यह नहीं सह सकता तब उसने माता-पिता की अनुमति ली और ससुराल जाकर अपनी पत्नी को लिवा लाया।'

'रत्नावली ने घर आकर, उसकी जो अवस्था देखी, तो जो थोड़ा-बहुत आदर तुलसू के प्रति उसके हृदय में रह गया था, वह भी नष्ट हो गया। तुलसू यदि अपने आहत अभिमान को लिए बैठा रहता, उसके पास न जाता, तब शायद वह उससे प्रेम करती, उसके वियोग में पीड़ित भी होती, क्योंकि प्रत्येक स्त्री के लिए उपेक्षा एक आकर्षक चैलेंज है जिसे वह इंकार नहीं कर सकती, जिसके आह्वान को वह विवश होकर स्वीकार करती है। किंतु तुलसू को इस प्रकार लौटा हुआ देखकर उसे क्रुद्ध भी न पाकर, उसे और भी अधिक ग्लानि हुई, यद्यपि वह उसके साथ चली आई।'

'पति के घर आकर उसने तुलसू से कहा, 'तुम्हारे यहां जोरू के गुलाम बनकर बैठे रहने की कोई जरूरत नहीं है। जाओ, कुछ कमाकर लाओ, ताकि पेट-भर खाना तो मिले!'

'जो बात तुलसू की आत्मा ने कही थी, वही आज उसे अपनी स्त्री के मुख से सुननी पड़ी। और आत्मा की जिस आज्ञापना की वह उपेक्षा कर गया था, वही स्त्री से पाकर वह उपेक्षा नहीं कर सका—यद्यपि वह स्त्री से विरक्त हो चुका था। वह भी निकला, उसी पथ पर जिस पर तुलसीदास गए थे—उसी पथ पर, किंतु उससे कितने विभिन्न पथ पर! तुलसू जहां जाता वहीं उसकी उपेक्षा होती, क्योंकि भारत में दरिद्रों की कब कमी हुई? और उस की ईश्वरोपासना? लोग कहते, 'घर में खाने को कुछ नहीं है, तो ईश्वर-भक्ति लिए फिरता है!' और यौवन? लोगों ने कहा, 'शर्म नहीं आती, ऐसा जवान हो कर भी आलस के दिन काटने चला है, जाकर मेहनत-मजदूरी करते नहीं बनता?' और प्रतिभा? वह यदि उस दरिद्रता की चक्की में पिसकर बची भी होती तो भी क्या इस घातक उपेक्षा में दीख पाती...'

'एक महीने के बाद तुलसू लौट आया—भूखा, प्यासा, नंगा। छाती की एक-एक पसली दीख रही थी, मुंह खिंचा हुआ, सफेद, मानो हड्डी पर सूखा चाम तान कर लगा दिया गया हो, आंखें धंसी हुईं, मानो अपनी ही लज्जा देखकर लज्जा से गड़ी जा रही हों—लौट आया, और झोंपड़ी के आंगन में धूप में ही बैठ गया, अपने में भीतर जाकर स्त्री का सामना करने का साहस न पा कर...'

'लौट आया, और आंगन में धूप में बैठकर रोने लगा—ऐसा रोना जो कि जीवन में एक बार रोया जाता है, ऐसा रोना जो कि और सब रोने से भयंकर और घातक होता है, बिना मुखाकृति बिगाड़े (यद्यपि और बिगड़ कर मुखाकृति क्या होती) रोना, बिना आंसू बहाए रोना, रोना कहीं प्राणों के भीतर...'

'तभी उसकी स्त्री बाहर आई, और उसे ऐसे बैठे देखकर तीखे व्यंग्य के स्वर में बोली, 'लौट आए? हां, बैठो जरा सुस्ता लो, बहुत काम कर आए हो! एक वह है जिसका यश दुनिया गाती है, जिसने विरक्त होकर भी अपने साथ ही अपनी स्त्री का नाम भी अमर कर दिया है, और एक तुम! शर्म-हया कुछ होती तो डूब मरते उसी दिन जब...' और फिर तुलसू के कमरबंद में खोंसी हुई कलम देखकर, पुनः धधककर 'लिखते हैं, काव्य करते हैं! इससे तो मेरी यह भोंडी छुरी ही अच्छी है, साग-पात तो काट लेती है, कुछ काम तो आती है!' कहकर उसने हाथ में ली हुई छुरी तुलसू के सामने पटक दी। और वापस भीतर चल दी। दो-एक कदम जाकर रुकी और अपने व्यक्तित्व का सारा जोर, अपने पत्नी-हृदय की सारी ग्लानि, अपने स्त्रीत्व से संक्षिप्त सारा तिरस्कार एक शब्द में भरकर बोली, 'लेखक!' और फिर भीतर चली गई...

'तुलसू का प्याला भर आया। वह मुग्ध दृष्टि से उस छुरी की ओर देखने लगा, धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा, यह भोंडी छुरी ही अच्छी है, साग-पात तो काट लेती है, कुछ काम तो आती है...कुछ काम तो आती है...'

'उसने देखा, स्त्री ही संसार की सबसे बड़ी शक्ति है, स्त्री का प्रेम ही संसार की सबसे बड़ी प्रेरणा...जब वह स्त्री से विमुख होता है, तब भी उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती, परिवर्तित हो जाती है, और कार्यों में लग सकती है...उसने देखा, उस एक दोहे के फलस्वरूप वह क्या-कुछ नहीं हो सकता था...किंतु नहीं हुआ, इसलिए कि जो शक्ति उसे बनाने में लगती वह सारी खर्च हो गई इन छोटी-छोटी अत्यंत क्षुद्र झंझटों में, वह लड़ता तो रहा, किंतु उन्नति की ओर बढ़ता हुआ नहीं, अवनति से बचता हुआ मात्र...'

'और अपनी हार मानकर भी, उसने जाना, वह एक बहुत बड़ा तथ्य पहचान गया है जो शायद तुलसीदास ने नहीं पहचाना, कि स्त्री का प्रेम ही संसार की सबसे बड़ी

और अचूक प्रेरणा है, चाहे वह कोई रूप धारण करके आविर्भूत हो। उसने जाना, वह रुद्ध होकर, नष्ट होकर भी जीवन पर अपना अधिकार बनाए रखता है। जैसे अब। वह स्त्री से कभी का विरक्त हो चुका है, किंतु उसकी स्त्री जो प्रेरणा कर रही है, उसे क्या वह इस समय भी टाल सकता है? कभी भी टाल सकता है?'

'उसका ध्यान फिर उस छुरी की ओर गया। वे शब्द फिर उसके कानों में गूंजे। 'यह भोंडी छुरी ही अच्छी है।' उसने छुरी उठाई। उंगली से देखने लगा कि क्या सचमुच भोंडी है। 'साग-पात तो काट सकती है।' उतनी अधिक भोंडी नहीं है। 'कुछ काम तो आती है।' कुछ काम...क्या काम? वह अचूक प्रेरणा...'

'तुलसू ने वह छुरी अपने हृदय में भोंक ली।'

4

'तुलसीदास और तुलसू फिर मिले। बनारस के एक घाट पर।'

'हमने आरंभ में कहा था कि तुलसीदास और तुलसू आख्योपन्यास की किसी रात के वातावरण से घिरे हुए किसी नगर में रहते थे और यहां हम उन्हें ले आए हैं बनारस में। पर यह इसलिए नहीं कि हमारी कहानी झूठी है, यह केवल इसलिए कि आख्योपन्यास के नगर भी उतने ही सच्चे हैं जितना बनारस, उतने ही स्थूल...संसार सारा बनारस-सा स्थूल भी नहीं है, आख्योपन्यास-सा काल्पनिक भी नहीं, उसमें दोनों ही तत्त्व हैं...संसार में एक-से-एक बढ़ कर असंभाव्य घटनाएं घटती हैं, और बिल्कुल साधारण, सामान्य घटनाएं भी। यदि हम केवल सामान्य घटनाएं ही चुनें और लिखें, तब हमारी कृति 'रिएलिस्टिक' कहाती है, किंतु होती है सचाई से उतनी ही परे जितनी 'रोमांटिक' कृति, जो केवल असंभव घटनाओं का ही पुंज होती है...सचाई तो इन दोनों का सम्मिश्रण है, उसमें आख्योपन्यास के नगरों का भी उतना ही अस्तित्व है जितना बनारस का।'

'हां तो तुलसू का शरीर उसके आंगन में से उठाकर तुलसीदासजी के आश्रम के पास ले जाया गया, क्योंकि तुलसू के घर में दाह-कर्म के खर्च के पैसे भी नहीं थे। तुलसीदासजी को सूचना दी गई कि एक मुर्दा है जिसके जलाने का प्रबंध नहीं है, तो उन्होंने तत्काल अपने एक शिष्य को भेज दिया कि वह प्रबंध करे। उसके चले जाने के बाद किसी ने कहा, 'वही तुलसू था जो—' और तुलसीदासजी ने, मानो बहुत दूर की कोई बात याद करने का प्रयत्न करते हुए दुहराया, 'अच्छा, वही तुलसू था जो—' और फिर अपनी भक्ति की शांति में लीन हो गए। लोगों ने कहा, 'धन्य हैं ये, जिन्हें—'

स्वप्न!

पता नहीं क्यों, मैं चौंककर उठ बैठा। मैंने जाना, मैं वह सब पढ़ नहीं रहा था, वह स्वप्न में ही मेरी कल्पना दौड़ रही थी, वह मेरे जागृत विचारों का एक प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) मात्र था...

मुझे ध्यान हुआ, यह बनी-बनाई कहानी है। मैंने कागज लिए, कलम उठाई और लिखने को सन्नद्ध होकर बैठा।

हां, कहां से आरंभ हुई थी? कैसे?

याद नहीं आई...मैं झुंझला उठा। तब जो अंश याद थे, वे भी भूल गए...मुझे याद रही केवल एक बात कि मेरी गृहलक्ष्मी रोटी पका रही थी, मैं उससे लड़कर यहां बैठा था, और सोच रहा था कि तुलसीदास—

तुलसीदास क्या?

तभी मैंने न जाने क्यों घूमकर देखा, पीछे मेरी पत्नी खड़ी है। और क्रुद्ध नहीं है। मुझे घूमते देखकर उसने नीरस स्वर में कहा, 'चलो, रोटी खाओ।'

मैंने देखा, उस स्वर में क्रोध नहीं है तो प्रेम भी नहीं, वह बिल्कुल नीरस है। गृहलक्ष्मी ने लड़ाई को भुला दिया है, किंतु साथ ही सुलह करने का आनंद भी खो चुकी है। और मैंने देखा, मेरी कहानी भी नष्ट हो गई है।

मैंने एक छोटा-सा निःश्वास छोड़कर कहा, 'चलो, मैं आया।' ❖

मनुष्य को अपने-आप पर भी उतना विश्वास नहीं होता जितना संतों पर होता है। यही कारण है कि लोग संतों पर ज्यादा राग रखते हैं।

वनपर्व-297, 42

ओक्ताविओ पाज़ की कविताएं

अवश्यंभावी

यदि यह यथार्थ है रोशनी
सफेद लैंप की, यथार्थ है
हाथ लिखता हुआ, क्या वे
आंखें यथार्थ हैं देखती हुईं
जो मैं लिखता हूं।

जो कुछ मैं कहता हूं
बिला जाता
शब्द से दूसरे शब्द तक
जानता हूं जीवित हूं मैं
दो वाक्यांशों बीच।

•

इबारत

अंकित ये अक्षर मैं करता हूं
दिन अपनी छवियों को अंकित ज्यों करता है
और गुजर जाता फिर खुद उनके ऊपर से,

वापस न आने को।

•

मुंदी हुई आंखों के साथ

साथ मुंदी आंखों के
अंदर से हो उठते
दीप्त तुम
पत्थर हो तुम अंधे

रात, हर रात में—
मैं तुम्हें तराशता
साथ मुंदी आंखों के
खरी-खरी कहते तुम
निष्कपट पत्थर हो

बढ़ते ही गए हम, विशाल हैं
जान एक-दूसरे को,
साथ मुंदी आंखों के

•

यहां

गूंजती मेरी पदचाप
इस गली के साथ-साथ

एक, दूसरी गली में

जिसमें मैं सुनता हूं

अपनी पदचाप को
गुजरते इस गली से

जिसमें कि कोहरा भर

सच है।

•

सुबह

हाथ औरं होंठ हवा के
पानी का हृदय

एक यूकिलिप्टस

शिविर एक बादलों का
जीवन जो जनमता है रोज
मृत्यु जो जनमती है हर जीवन में

मलता हूं आंखें मैं :
डग भरता धरती पर नभ।

अनुवाद : **प्रयाग शुक्ल**

❖❖

शीलन

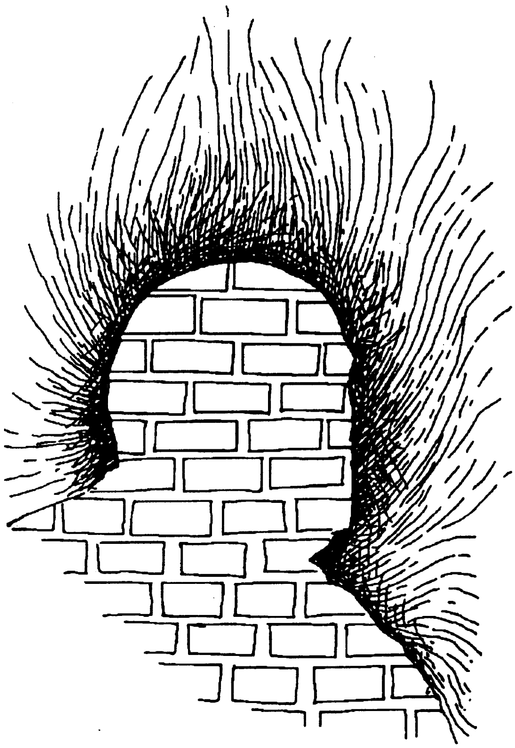

आधुनिक जटिल प्रौद्योगिकी पर आश्रित औद्योगीकरण और लोकतांत्रिक प्रणालियों के आकर्षण के साथ-साथ राज्य के सर्वाधिक शक्तिशाली होते चले जाने का एक कारण आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों का विकास भी है। मध्यकाल तक धर्म राज्य से बड़ा सत्ता संस्थान था और सैनिक विद्या की अजटिलता के कारण राज्य की शक्ति नागरिकों के लिए अपराजेय नहीं थी। लेकिन एक ओर राज्य में शक्ति के सभी प्रकारों का केंद्रीकरण होता गया और दूसरी ओर आधुनिक सैनिक विद्या और व्यवस्था ने राज्य और नागरिक के बीच एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर दी। आधुनिक राज्य जनता के लिए अपराजेय हो गया।

—नन्दकिशोर आचार्य

वंदणएणं नीया गोयं कम्मं खवेई

❑ मुनि विनोदकुमार 'विवेक' ❑

कोई भी कार्य कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, जब तक उसे संपादित करने कि विधि नहीं जानेंगे—अपेक्षित लाभ नहीं होगा। प्रत्येक कार्य की एक विधि होती है। उस विधि के अनुरूप ही कार्य करना जरूरी है। इसी प्रकार वंदना की भी एक विधि होती है।

वंदना का हर संस्कृति में अपना ही एक महत्त्व है। वंदना करना शिष्टाचार का प्रमुख अंग भी माना जाता है। वंदना का महत्त्व बताते हुए नीतिकारों ने कहा है—

'अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोऽपसेविनः।
चत्वारी तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्या यशोबलम्।।'

जो व्यक्ति अभिवादनशील है, और बुजुर्गों की नित्य सेवा करने वाला है, उसे चार प्रकार की उपलब्धि सहज ही हो जाती है—आयु, विद्या, यश और बल।

जैन संस्कृति में भी 'गुरुवंदना' की महत्त्वपूर्ण परंपरा है। शैशवकाल से ही बच्चों को वंदना के संस्कारों से प्रभावित किया जाता है। कोई भी क्रिया सही विधि के अभाव में फलदाई नहीं हो सकती। अतः वंदना विधि की सही जानकारी के लिए कुछ बातें विमर्शनीय हैं :

वंदना क्यों

निर्जरा के बारह प्रकार के भेदों में एक है विनय। यह आभ्यंतर तप है। वंदना इसकी अभिव्यक्ति है। वंदना ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप व संयम का अनुमोदन है।

राजा श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार अपने राज्य का महामंत्री था और अपने अन्य मंत्रियों के साथ एक बार कहीं जा रहा था। रास्ते में एक मुनि को आते देखा तो महामंत्री ने तुरंत रथ रुकवाकर प्रणतिपूर्वक बड़े विनम्र भाव से मुनि की वंदना की। यह देख उनके मंत्रियों ने महामंत्री का उपहास किया। आपस में ही बात करने लगे—'अभयकुमार भी कैसा सनकी है—ऐसे मैले-कुचैले, नंगे पांव घूमने वाले इस भिक्षु को वंदन करना भला कैसी समझदारी है?' अभयकुमार ने यह सुन लिया था, पर वहां पर वह मौन रहा। अगले दिन उन मंत्रियों को बुलाकर कुछ बातें कहीं—'आप सबको एक महत्त्वपूर्ण काम करना है।' सबने हां भरी तो कहा—'हर एक को एक दिन के लिए पूर्ण अहिंसा का पालन करना है। मन से, वचन से और काया से किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी, न करानी और न ही करने वाले का अनुमोदन करना। इसी प्रकार क्रमशः सभी को सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन भी करना होगा।' सबने पहले तो असमर्थता जताई, पर अभयकुमार के आग्रह पर एक दिन का व्रत स्वीकार कर लिया।

अगले ही दिन सबको लगा कि यह नियम तो बहुत कठिन है। फिर विचार-विमर्श होने लगा—अभयकुमार ने पूछा कि, यदि कोई इस नियम का पालन करे तो वह व्यक्ति कैसा होगा? सबने कहा—'वह तो कोई महान पुरुष ही होगा।' अभयकुमार ने फिर पूछा—'यदि कोई इन पांचों महाव्रतों का पालन एक साथ करे तो?' सबने कहा—'वह तो और भी महान माना जाएगा, भगवान के बराबर का व्यक्ति ही इन दुष्कर नियमों का पालन कर सकता है।' अभयकुमार ने अंतिम प्रश्न किया—'यदि कोई व्यक्ति जीवनभर इन पांच महाव्रतों का पालन करे तो?' 'वह तो भगवान से भी बढ़कर होगा, उसके चरण तो धो कर पीने योग्य होंगे'—सभी मंत्रियों ने एक स्वर में कहा। तब अभयकुमार ने बताया—'मैंने जिस मुनि की वंदना की, वह ऐसा ही महान व्यक्ति था। वह इन पांच महाव्रतों का जीवन भर पालन करने वाला है। इसीलिए मैंने उसे वंदना की।'

वंदना के माध्यम से एक साधक की साधना का अनुमोदन किया जाता है जो साधना करने और करवाने के समान ही लाभकारी है। 'वंदना' एक साधक के प्रति सम्मान का प्रदर्शन है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि असंयम से संयम सदैव बड़ा है।

वंदना का फल

उत्तराध्ययन सूत्र में गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—'वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?—भगवन्!

वंदना से जीव क्या प्राप्त करता है?' भगवान ने उत्तर दिया—'वंदणएणं नीया गोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं निबंधई। सोहग्ग च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ दाहिणभावं च णं जणयइ।। —वंदना नीच कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करती है और उच्च कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों का अर्जन होता है। जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें, वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है।'

वंदना के कुछ अन्य प्रासंगिक लाभ भी हैं—

- ❑ एड्रीनल ग्रंथि का स्राव संतुलित होता है।
- ❑ रक्तप्रवाह मस्तिष्क की ओर बढ़ता है, जिससे स्मरणशक्ति और मानसिक संतुलन का विकास होता है।
- ❑ विनम्रता का विकास होता है, अहंकार का विलय होता है।
- ❑ रीढ़ की हड्डी में लचीलापन बढ़ता है जो आध्यात्मिक, शारीरिक स्वास्थ्य की पहचान है।

वंदना कैसे

कोई भी कार्य कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, जब तक उसे संपादित करने कि विधि नहीं जानेंगे—अपेक्षित लाभ नहीं होगा। प्रत्येक कार्य की एक विधि होती है। उस विधि के अनुरूप ही कार्य करना जरूरी है। इसी प्रकार वंदना की भी एक विधि होती है।

शून्य तरीके से वंदना करने से कभी-कभी लाभ के स्थान पर हानि हो जाती है। विनय के बनिस्पत अशातना का दोष लग जाता है। गुरुदेवश्री तुलसी ने 'श्रावक संबोध' में विवेकपूर्ण वंदन विधि का उल्लेख किया है—

'पंचांग-प्रणति जैनों की वंदन-विधि है,
मुश्किल से मिलती संतों की सन्निधि है।
अवसर पर चरण-स्पर्श करें धीमे-से,
है सबसे अच्छी भाव-वंदना वैसे।।'

श्रद्धा और विवेकपूर्वक की गई वंदना ही भाव-वंदना है। श्रद्धा और विवेक के अभाव में भाव-क्रिया नहीं होती है। जिससे वंदना का लाभ नहीं मिलता। ग्रंथों में वंदना के तेरह दोष बताए गए हैं। इन दोषों से बचकर की गई वंदना ही लाभकारी होती है—

1. **अनादृत वंदना**—अनादरपूर्वक वंदना करना।
2. **स्तब्ध वंदना**—अभिमानपूर्वक वंदना करना।
3. **प्रदुष्ट वंदना**—जिसे वंदना करते हैं, उसकी त्रुटि को ध्यान में रखते हुए घृणापूर्वक वंदना करना।
4. **मत्स्य वंदना**—एक वंदना करके दूसरे को घूमते हुए वंदना करना।
5. **गौरव-निमित्त वंदना**—लोग कहेंगे कि यह समाचारी में कुशल है, इस प्रलोभन से वंदना करना।
6. **चौर्य वंदना**—लोगों की दृष्टि चुराकर वंदना करना, अथवा मेरा लाघव न हो, अतः चोर की तरह छुपकर वंदना करना।
7. **प्रत्यनीक वंदना**—आहारादि काल में वंदना करना।
8. **मैत्री वंदना**—पूर्व संबंध या स्नेहवश वंदना करना।
9. **दृष्टादृष्ट वंदना**—देखने पर वंदना करना, दूरी अथवा अंधकार में न करना।
10. **मूक वंदना**—बिना बोले वंदना करना।
11. **ढड्ढर वंदना**—जोर से बोलते हुए वंदना करना।
12. **वेदिकाबद्ध वंदना**—दोनों हाथों को जांघ पर तथा घुटनों के बीच रखकर वंदना करना।
13. **करमोचन वंदना**—बंधन मानते हुए वंदना करना।

इनके अलावा कुछ अन्य बातें भी हैं जिनका गुरु-वंदन के समय ध्यान रखना अति आवश्यक है। जैसे—स्वाध्याय, ध्यान, अर्हत् वंदना, प्रवचन, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, आहार आदि कार्य चल रहे हों तो दूर से ही भाव-वंदना करना उचित है।

चरण-स्पर्श में सावधानी

चलते समय चरण-स्पर्श करना कभी भी निरापद नहीं होता। क्योंकि जरा-सी असावधानी गिरने या नाखून से पांव के घायल होने का कारण बन सकती है। वैसे चरण-स्पर्श तो उचित अवसर पर उचित तरीके से करना ही सही होता है। हाथ और मस्तिष्क में पसीना, मैल, तेल आदि लगे हों तो विशेष सावधानी रखनी चाहिए, ताकि संतों का शरीर और कपड़े दूषित न हों। इसी तरह सचित्त पानी से शरीर भीगा हुआ हो, हरियाली, फूल-फल आदि सचित्त द्रव्य पास में या स्पर्श किए हुए हों तो चरण-स्पर्श नहीं करना चाहिए।

वंदना किसे करें

जैन दर्शन में व्यक्ति का महत्त्व नहीं, गुणों का महत्त्व है। व्यक्ति नहीं पूजा जाता, उसके गुण पूजे जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने इस संबंध में स्पष्ट कहा—

जिन मारग (म) देखल्यो, गुण लारै पूजा।
निगुण्यां न पूज जिका, मारग छ दूजा।।

रत्न-त्रय—सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्रयुक्त उत्तम आत्मा ही वंदनीय है। इसमें भी चारित्र का स्थान ऊंचा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि चारित्र ही वंदनीय है। नमस्कार महामंत्र के पांच पद—जिनमें प्रथम दो पद देव तथा शेष तीन गुरु-पद हैं—में किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं। इसमें गुणों के आधार पर ही नमस्कार किया गया है।

वंदना कब

मूलतः वंदना का समय दिन में दो वार— सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय का है। इस समय सामूहिक रूप से विधिपूर्वक गुरु-वंदना की जाती है। यदि गुरु ग्रामांतर में हो तो भी गुरु की दिशा में मुख कर वंदना की जाती है। पर इससे अधिक बार भी वंदना की जा सकती है। आगमन, विहार के समय, आलोचना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण के बाद तथा अन्य किसी विशेष अवसर पर भी वंदना की जाती है।

वंदन पाठ

तिक्खुत्तो—तीन बार

आयाहिणं—दाईं से बाईं ओर

पयाहिणं—प्रदक्षिणा

करेमि—करता हूं।

वंदामि—स्तुति करता हूं।

नमंसामि—नमस्कार करता हूं।

सक्कारेमि—सत्कार करता हूं।

सम्माणेमी—सम्मान करता हूं।

कल्याणं—आप कल्याणकारी हैं।

मंगलं—आप मंगलकारी हैं।

देवयं—आप धर्मदेव हैं।

चेइयं—आप ज्ञानवान हैं।

पज्जुवासामि—सेवा करता हूं (उपासना करता हूं)

मत्यएण वंदामि—मस्तक झुकाकर वंदना करता हूं।

विधि

'दोनों हाथ जोड़, खड़े होकर दाईं से बाईं तरफ तीन बार प्रदक्षिणा देते हुए 'करेमि' तक पाठ मन में बोलें, फिर शेष पाठ वंदन मुद्रा में बैठकर बोलें। अंत में खड़े होकर सुखसाता पूछते समय—आपके तनुरत्न में सुखसाता है।'

इस प्रकार विधिपूर्वक वंदना करने की क्रिया का प्रेरणापूर्वक अभ्यास कराना चाहिए। बाल्यकाल से ही इसे महत्त्वपूर्ण मानते हुए जीवन के दैनंदिन क्रिया-कलापों का अनिवार्य हिस्सा बनाना चाहिए। आज का बाल्यकाल ही समाज और राष्ट्र का यशस्वी युवाकाल इसी तरह बनेगा।

❖

समान वितरण का सच्चा अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी सारी कुदरती जरूरतें पूरी करने का साधन मिल जाए, उससे ज्यादा नहीं। उदाहरणार्थ, यदि किसी आदमी का हाजमा कमजोर है और उसे रोटी के लिए पावभर आटे की ही जरूरत है और दूसरे को आधा सेर की जरूरत है, तो दोनों को अपनी-अपनी आवश्यकताएं पूरी करने का मौका मिलना चाहिए। इस आदर्श की स्थापना के लिए सारी समाज व्यवस्था की फिर से रचना करनी पड़ेगी। अहिंसा के आधार पर बने हुए समाज का कोई आदर्श नहीं हो सकता। शायद हम इस ध्येय को प्राप्त न भी कर सकें, परंतु हमें उसे ध्यान में रखना चाहिए और उसके निकट पहुंचने के लिए सतत कार्य करते रहना चाहिए। जिस हद तक हम अपने ध्येय की दिशा में प्रगति करेंगे, उसी हद तक हमें सुख और संतोष प्राप्त होगा, और उतनी ही हद तक हम अहिंसक समाज की स्थापना करने में मदद पहुंचाएंगे।

—महात्मा गांधी

नेतृत्व क्षमता के सूत्र

❑ साध्वी श्रुतयशा ❑

नेता चक्षु के समान होना चाहिए—इसका अभिप्राय यही है कि वह किसी भी क्षेत्र में होने वाली घटनाओं को प्रत्यक्षदर्शी के रूप में जाने, भले हर समय उन सबका प्रत्यक्षदर्शी न रहे।

वह ऐसे साधनों को अपनाए, ऐसी तकनीक और प्रक्रियाओं को काम में ले कि बार-बार उनके मध्य न जाते हुए भी सब-कुछ जानने की क्षमता उसमें आ जाए। यह भी जरूरी है कि नेता की अवज्ञा न हो। अतः नेता और अनुयायी के बीच अपेक्षित दूरी भी रहे।

आज नेतृत्व की खींच-तान का युग है। हर व्यक्ति नेता बनना चाहता है। जिसने येन-केन-प्रकारेण सत्ता में स्थान बना लिया है वह भी आगे से आगे सत्ता शिखर के लिए आतुर है। और जिसको कुर्सी ने वरण नहीं किया है वह यथा-तथा उसको अपनी बनाने के लिए ताबड़तोड़ कर रहा है। अन्य पदों एवं कार्यक्षेत्रों में जहां योग्यता एवं क्षमता के यथोचित मानदंड निर्धारित हैं, पर राजनीतिक सत्ता की अर्हता के पैमाने बौने होते जा रहे हैं। 'नेता' की भीड़ लगी है। नेता कैसा हो? इस पर गंभीरता-पूर्वक विचार ही नहीं होता। जबकि, यह बात सर्वाधिक विचारणीय है।

नीतिकारों ने नेताओं के गुणों एवं कसौटियों का निर्धारण किया है और कहा है—

सक्षमः सर्वदोषघ्नः सामंजस्य विधायकः।
आदेयवचनश्यापि नेता निर्णायको मतः।।

इस नीति श्लोक के अनुसार मुख्यतः पांच विशेषताएं नेता में होनी चाहिए। वह नेतृत्व क्षमता से शोभित होता है, अतः नेता की क्षमता का जितना अधिक विकास होगा, वह अनुयायियों के लिए उतना ही अनुकरणीय होगा। जहां समूह होता है—वहां अनेक कठिनाइयां एवं दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं। नेता वह होता है जो इन दोषों का शमन करना जाने। नेता वह होता है जो अपने समूह के विभिन्न सदस्यों की भिन्न-भिन्न रुचियों, विचारों एवं मतों में सामंजस्य स्थापित कर सके और तटस्थ दृष्टि से नेतृत्व कर सके, अनुगामी उसी के वचनों का समादर करें। नेता सफल तब होता है—जब वह निर्णय लेने में समर्थ हो। यदि वह समय पर उचित निर्णय न ले सके तो उसका नेतृत्व खतरे में पड़ सकता है।

आवश्यक सूत्र के शक्र स्तुति आलापक में तीर्थंकरों को चक्खुदयाणं कहकर नेता को आंख सदृश होने के लिए प्रेरित किया है। इस परिप्रेक्ष्य में आंख की तीन विशेषताएं हैं—

पथ दर्शन—पथिक को पथ में विविध समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अनेक स्थानों पर अंधेरा होता है। तब दिन में सूर्य, रात में दीपक आदि सहायक सिद्ध होते हैं। कहीं मार्ग में माडे अधिक होते हैं, लंबे मार्ग में हताशा भी बाधक बनती है, उस समय मील के पत्थर उसका मार्ग प्रशस्त करते हैं। अतः पथ दर्शक को सूर्य, दीप और मील के पत्थर से उपमित करते हैं, पर तथ्य यह है कि ये सभी पथ दर्शन में तभी कारगर हो सकते है जब पथिक चाक्षुष्यमान हो। सौ सूर्य और हजार मील के पत्थर भी क्या प्रज्ञाचक्षु के लिए कोई महत्त्व रखते हैं। नेत्र की इसी विशेषता ने आगमकारों को प्रेरित किया कि वे तीर्थंकरों की स्तुति में चक्खुदयाणं शब्द का प्रयोग करें।

नेता चाहे छोटे समूह का है या बड़े समूह का—यदि वह अपने समूह के सदस्यों के लिए आदेशभूत न हो, यदि वह उन्हें प्रेरित न कर सके तो वह नेता वस्तुतः आगे ले जाने वाला नहीं हो पाता। नेता वह होता है जो अपने आचरण से अपने अनुयायियों को प्रेरित कर सके। जिसका व्यवहार दूसरों को मूक प्रेरणा देता रहे। जिसकी भाषा-भूषा, रहन-सहन दूसरों के लिए अनुकरणीय न हो तो वह संपूर्ण व्यक्तित्व का धनी नहीं होता। फलतः वह अपने अनुगामियों

को प्रेरित भी नहीं कर सकता। उसमें अंतर्दृष्टि का विकास हो, उसकी वृत्तियां सम्यक् हों, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति शालीन हो कि बिना कुछ कहे ही दूसरे उससे प्रेरणा लें।

संवेदनशीलता—आंख की दूसरी विशेषता है संवदेनशीलता। शरीर के प्रत्येक अंग के प्रति उसकी समान सहानुभूति होती है। कान उसके अत्यंत निकट हैं, पैर पर्याप्त दूर हैं। फिर भी दर्द चाहे कान में हो या पैर में, आंख उससे प्रभावित होती है। उसमें आर्द्रता आ ही जाती है। पलकों की सीमा को पार कर अश्रुकण नीचे भी लुढ़क जाते हैं। आंख की इस विशेषता को प्रत्येक नेता निभाए। अधिकांशतः जिस व्यक्ति का कोई स्वार्थ सधता है, या जो विचारों या संस्कारों की दृष्टि से अधिक निकट होता है, उसी के छोटे-से दर्द को बहुत गंभीरता से लिया जाता है। उसी की चिंता होती है और निराकरण का उपाय किया जाता है। जिसके प्रति सामान्य या उससे भी कम संबंध होता है और भाव जगत की दृष्टि से जो कुछ दूर होता है, उसके बड़े से बड़े कष्ट को भी नजरअंदाज किया जा सकता है। जहां नेता द्वारा ऐसा व्यवहार होता है, उसका नेतृत्व चिरस्थाई नहीं हो सकता।

अप्राप्यकारी—दर्शन जगत का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है—प्राप्यकारी-अप्राप्यकारी। हमारी पांच ज्ञानेंद्रियों में कौन-कौनसी ज्ञानेंद्रियां प्राप्यकारी हैं—विषय को प्राप्त कर, संपर्क कर उसका ज्ञान कराती हैं और कौन-कौन-सी इंद्रियां अप्राप्यकारी हैं—विषय ज्ञान के लिए उन्हें साक्षात् संपर्क की अपेक्षा नहीं रहती। संप्रति हमारा प्रयोजन है चक्षु की अप्राप्यकारिता से। जैन दर्शन के अनुसार रूप को ग्रहण करने के लिए न चक्षु को रूप के पास जाना पड़ता है, न रूप के पुद्गल चक्षु के पास आते हैं। व्यंजनावग्रह विषय और इंद्रिय का साक्षात् संपर्क हुए बिना ही आंख रूप को ग्रहण कर लेती है। उसकी विषय-व्यापकता और क्षेत्रसीमा भी अन्य इंद्रियों की अपेक्षा कहीं अधिक है।

नेता चक्षु के समान होना चाहिए—इसका अभिप्राय यही है कि वह किसी भी क्षेत्र में होने वाली घटनाओं को प्रत्यक्षदर्शी के रूप में जाने, भले हर समय उन सबका प्रत्यक्षदर्शी न रहे। वह ऐसे साधनों को अपनाए, ऐसी तकनीक और प्रक्रियाओं को काम में ले कि बार-बार उनके मध्य न जाते हुए भी सब-कुछ जानने की क्षमता उसमें आ जाए। यह भी जरूरी है कि नेता की अवज्ञा न हो। अतः नेता और अनुयायी के बीच अपेक्षित दूरी भी रहे।

अर्हत् अनंत चक्षु होते हैं। वे ज्ञान और दर्शन से संपन्न होते हैं। उन्हें पूरे विश्व में हो रही छोटी से छोटी घटना का भी यथार्थ ज्ञान होता है। वे अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वीर्य से प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श हैं। वस्तुतः वे ही चक्षुभूत हैं। वे अंतर्दृष्टिसंपन्न होते हैं और मार्ग पर चलने वाले प्रत्येक पथिक की अंतर्दृष्टि के उद्घाटक भी। अतः वे चक्षुदाता भी हैं। नेता चाहे धर्मसंघ का हो या राजनीतिक दल का, छोटे क्षेत्र का हो या बड़े राज्य का—यदि वह नेत्र की उपरोक्त तीन विशेषताओं को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करे तो वह अपने दायित्व का निर्वहन सम्यक्रूपेण कर सकता है और अन्य लोगों की दृष्टि में भी पूज्य बन सकता है। नेतृत्व की डोर हाथ में लेने से पूर्व व्यक्ति अपनी अंतर्दृष्टि से आंख की इन प्रेरणाओं को पढ़ें और सोचें कि पहले आंख बनूं फिर नेता। ❖

संघर्ष और हिंसा के बीज हमारी समाज-रचना और संस्कृति में आरंभ से ही रहे हैं—आंतरिक अंतर्विरोधों के रूप में। पहले उन्हें दर्शन और धर्म ने नियंत्रित किया, बाद में ऐसे सांस्कृतिक आंदोलनों ने, जिनकी परिणति भक्ति के किसी स्वरूप में हुई। नवजागृत राष्ट्रीयता या स्वाधीनता के दर्शन और देशभक्ति ने यही भूमिका निभाई आजादी के पहले दो दशकों में। आज का युग है सत्ता और स्वार्थ की लज्जाहीन राजनीति का, जिस पर अंकुश रखने में विघटित होता समाज और विशृंखलित होते मूल्य असमर्थ हैं। प्रशासन असहाय है। उसका भी सामाजिक चरित्र वही है जो सारे देश का। दबी हुई हिंसा की चिनगारियां भड़क रही हैं। नेतृत्व का मनोबल अशक्त हो गया है। उसमें न दूरदर्शी विराट् कल्पना है, न सामाजिक साहस। दिशाहीन संक्रमण ने देश को अनिश्चय की घाटियों में धकेल दिया है। हम अपने ही घर में आग लगाकर तमाशा देख रहे हैं।

—श्यामाचरण दुबे

स्त्री-मुक्ति

जैन दर्शन आत्मा का दर्शन है। आत्म-दर्शन में लिंग, रूप, रंग या जाति का भेद नहीं होता। वह 'समता' के आधार पर टिकता है और उसी पर बढ़ता है। सभी स्त्री-पुरुषों में आत्मा का अविषम अस्तित्व है। चैतन्य विकास का तारतम्य अपने-अपने कारणों के अनुरूप अभिव्यक्त होता है। कई स्त्रियों का चैतन्य विकास कई पुरुषों से कई गुणा अधिक हो सकता है और कई पुरुषों का चैतन्य विकास कई स्त्रियों से अधिक हो सकता है। जो काम स्त्रियां कर सकती हैं, वे पुरुष नहीं कर सकते। जो काम पुरुष कर सकते हैं वे स्त्रियां नहीं कर सकतीं। कार्य-विभाजन के आधार पर उनके पराक्रम का स्वीकार भूल है। भारत में सामान्यतया जो कार्य स्त्रियां करती हैं, अन्यत्र वे कार्य पुरुष भी करते हैं। आजकल भी सामोया के निवासी घर में भोजन बनाते हैं और स्त्रियां बाजार-हाट से सौदा खरीदने जाती हैं। एबीसीनिया के पुरुष बाजार या हाट में जाने से शरमाते हैं, परंतु घाट पर जाकर स्त्रियों और पुरुषों के सभी कपड़े धोने में आनंद का अनुभव करते हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के काम-धंधे सर्वत्र एक-से नहीं होते।

जैन दर्शन की मान्यता है कि जिस संपूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान को कई कापुरुष प्राप्त नहीं कर सकते, कई वीतराग भाव प्राप्त स्त्रियां उसे प्राप्त कर लेती हैं। क्या यह उनकी अनंत शक्ति का परिचायक नहीं है? क्या यह उनके कर्तृत्व का स्वीकार नहीं है? क्या यह उनके पौरुष का संगायक नहीं है?

इसी स्वीकार के आधार पर जैन तीर्थंकरों ने स्त्री-मुक्ति का विशेष विधान किया। भगवान महावीर हमारे आसन्न तीर्थ-प्रवर्तक हैं। उन्होंने इंद्रभूति आदि ग्यारह विद्वानों को 'गणधर' पद पर नियुक्त कर समस्त साधु समाज की बागडोर उनके हाथों में सौंपी। संघ विस्तार पाने लगा। विरक्त स्त्रियों ने प्रव्रज्या स्वीकार की। साध्वी समाज बना। उनके नेतृत्व का भार चन्दनबाला को सौंपा गया। उन्होंने जो धर्म साधुओं के लिए कहा, वही साध्वियों के लिए। मूल विधान दोनों के लिए एक था। बाह्य व्यवस्था संबंधी कतिपय नियमों का अंतर अवश्य था। जिस प्रकार साधुओं ने ज्ञानार्जन तथा तपस्या के क्षेत्र में विकास किया उसी प्रकार साध्वियों ने भी अपनी मर्यादा के अनुसार विकास किया। भगवान ने कहा—'आत्म-विकास करने का सबको अधिकार है। सभी अनंत शक्ति संपन्न हैं। जो आत्मवीर्य को कार्यकर बना सकता है, वही मुक्त हो सकता है, चाहे फिर वह स्त्री हो या पुरुष। जिस प्रकार स्त्री कर्मों का बंध करने में स्वतंत्र है उसी प्रकार वह उन्हें तोड़ने में भी स्वतंत्र है। जिस प्रकार वह अज्ञान-तिमिर से आच्छन्न होती है, उसी प्रकार वह ज्ञान के आलोक से प्रकाशित भी हो सकती है। जिस प्रकार वह मानसिक, वाचिक और दैहिक यातनाओं से आक्रांत होती है उसी प्रकार वह उन पर साधना के बल पर विजय पा उन्हें अकिंचित्कर भी कर सकती है।' ये स्वर नारी-जाति के लिए क्रांति के स्वर थे। भगवान महावीर ने साध्वी समाज को सुसंगठन देकर नारी-जाति का गौरव बढ़ाया। सहस्राब्दियों में भी ऐसा सुंदर संगठन इतिहास के पृष्ठों में अंकित नहीं मिलता। इस संगठन को सुदृढ़ बनाने में उन्हें उस समय अनेक कठिनाइयां सहनी पड़ी हों, अनेक आक्रोश सहने पड़े हों—इसमें तनिक भी संशय नहीं हो सकता। परंतु जब उनके सुपरिणाम सामने आए, तब समकालीन सभी धर्म-संप्रदायों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसके अनुकरण की ओर कदम बढ़ाए। परंतु वे उसमें सफल नहीं हो सके। भगवान महावीर ने निर्भयता से यह कार्य किया क्योंकि उनके संगठन के पीछे आचार और विचार की पवित्र दृढ़ भूमि थी। उनकी इस साहसिकता से आकृष्ट हो विनोबा भावे ने एक बार लिखा—

'महावीर के संप्रदाय में स्त्री-पुरुष का किसी प्रकार कोई भेद नहीं किया गया है। पुरुषों को जितने अधिकार दिए गए हैं, वे सब अधिकार बहनों को दिए गए थे। मैं इन मामूली अधिकारों की बात नहीं कहता हूं, जो इन दिनों चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती है। उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता भी महसूस नहीं हुई होगी। परंतु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारों की बात कर रहा हूं।'

—मुनि दुलहराज

बालकथा

काबुलीवाला

❑ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ❑

काबुली प्रतिदिन आता रहा। उसने किशमिश, बादाम दे-देकर मिनी के छोटे-से हृदय पर काफी अधिकार जमा लिया। दोनों में कुछ बंधी हुई बातें होतीं और वे खूब हंसते। रहमत काबुली को देखते ही मेरी लड़की हंसती हुई पूछती, 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले, तुम्हारी झोली में क्या है?' रहमत हंसता हुआ कहता, 'हाथी!' फिर वह मिनी से कहता, 'तुम ससुराल कभी नहीं जाना, अच्छा!'

मेरी पांच बरस की छोटी लड़की मिनी से घड़ीभर भी बोले बिना नहीं रहा जाता। एक दिन वह सवेरे-सवेरे ही बोली, 'बाबूजी, रामदयाल दरबान है न, वह 'काक' को 'कौआ' कहता है। वह कुछ जानता नहीं न, बाबूजी?' मेरे कुछ कहने से पहले ही उसने दूसरी बात छेड़ दी, 'देखो बाबूजी, भोला कहता है, 'आकाश में हाथी सूंड से पानी फेंकता है, इसी से वर्षा होती है।' अच्छा, बाबूजी, भोला झूठ बोलता है, है न?' और फिर वह खेल में लग गई।

मेरा घर सड़क के किनारे पर है। एक दिन मिनी मेरे कमरे में खेल रही थी। अचानक वह खेल छोड़कर खिड़की के पास दौड़ी गई और बड़े जोर से चिल्लाने लगी, 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले!'

'काबुलीवाला' विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सर्वाधिक चर्चित व लोकप्रिय कहानी है। अफगानिस्तान में भयानक त्रासदी भोग चुकी मानवीयता के रिसते घावों पर निश्छल प्रेम और संवेदनशीलता का शीतल मरहम लगाने तथा शाश्वत सांस्कृतिक भाईचारे की याद को तरोताजा करने के लिए पढ़ें एक बार फिर— 'काबुलीवाला'

कंधे पर मेवों की झोली लटकाए, हाथ में अंगूर की पिटारी लिए एक लंबा-सा काबुली धीमी चाल से सड़क पर जा रहा था। जैसे ही वह मकान की ओर आने लगा, मिनी जान लेकर भीतर भाग गई। उसे डर लगा कि कहीं वह उसे पकड़ न ले जाए। उसके मन में डर बैठ गया था कि उस झोली के अंदर तलाश करने पर उस जैसे और भी दो-चार बच्चे मिल सकते हैं।

काबुली ने मुस्कराते हुए सलाम किया। मैंने उससे कुछ सौदा खरीदा। फिर वह बोला, 'बाबू साहब, आपकी लड़की कहां गई?'

मैंने मिनी के मन से डर दूर करने के लिए उसे बुलवा दिया। काबुली ने झोली से किशमिश और बादाम निकालकर मिनी को देना चाहा, पर उसने कुछ न लिया। डरकर वह मेरे घुटनों से चिपट गई। काबुली से उसका पहला परिचय इस तरह हुआ।

कुछ दिन बाद, किसी जरूरी काम से मैं बाहर जा रहा था। देखा कि मिनी काबुली से खूब बातें कर रही है और काबुली मुस्कराता हुआ सुन रहा है। मिनी की झोली बादाम, किशमिश से भरी हुई थी। मैंने काबुली को अठन्नी देते हुए कहा, 'इसे यह सब क्यों दे दिया? अब मत देना।' फिर मैं बाहर चला गया।

कुछ देर तक काबुली मिनी से बातें करता रहा। जाते समय वह अठन्नी मिनी की झोली में डालता गया। जब मैं घर लौटा तो देखा कि मिनी की मां काबुली से अठन्नी लेने के कारण उस पर खूब गुस्सा हो रही है।

काबुली प्रतिदिन आता रहा। उसने किशमिश, बादाम दे-देकर मिनी के छोटे-से हृदय पर काफी अधिकार जमा लिया। दोनों में कुछ बंधी हुई बातें होतीं और वें खूब हंसते। रहमत काबुली को देखते ही मेरी लड़की हंसती हुई पूछती, 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले, तुम्हारी झोली में क्या है?' रहमत हंसता हुआ कहता, 'हाथी!' फिर वह मिनी से कहता, 'तुम ससुराल कभी नहीं जाना, अच्छा!'

इस पर उलटे वह रहमत से ही पूछती, 'तुम ससुराल जाओगे?'

रहमत अपना मोटा घूंसा तानकर कहता, 'हम ससुर को मारेगा।' इस पर मिनी खूब हंसती। हर साल सर्दियों के अंत में काबुली अपने देश चला जाता। जाने से पहले वह सब लोगों से पैसा वसूल करने में लगा रहता। उसे घर-घर घूमना पड़ता, मगर फिर भी प्रतिदिन वह मिनी से एक बार मिल ही जाता।

एक दिन सवेरे मैं अपने कमरे में बैठा कुछ काम कर रहा था। ठीक उसी समय सड़क पर बड़े जोर का शोर सुनाई दिया। देखा तो अपने उस रहमत को दो सिपाही बांधे लिए जा रहे हैं। रहमत के कुरते पर खून के दाग हैं और सिपाही के हाथ में खून से सना हुआ छुरा। कुछ सिपाही से ही और कुछ रहमत के मुंह से सुना कि हमारे पड़ोस में रहने वाले एक आदमी ने रहमत से एक चादर खरीदी थी। उसके कुछ रुपये उस पर बाकी थे, जिन्हें देने से उसने इंकार कर दिया था। बस, इसी पर दोनों में बात बढ़ गई, और काबुली ने उसे छुरा मार दिया।

इतने में 'काबुलीवाले, काबुलीवाले' कहती हुई मिनी घर से निकल आई। रहमत का चेहरा क्षणभर के लिए खिल उठा। मिनी ने आते ही पूछा, 'तुम ससुराल जाओगे?' रहमत ने हंसकर कहा, 'हां, वहीं तो जा रहा हूं।'

रहमत को लगा कि मिनी उसके उत्तर से प्रसन्न नहीं हुई। तब उसने घूंसा दिखाकर कहा, 'ससुर को मारता पर क्या करूं, हाथ बंधे हुए हैं।'

छुरा चलाने के अपराध में रहमत को कई साल की सजा हो गई।

काबुली का खयाल धीरे-धीरे मेरे मन से बिल्कुल उतर गया और मिनी भी उसे भूल गई।

●●

कई साल बीत गए।

आज मेरी मिनी का विवाह है। लोग आ-जा रहे हैं। मैं अपने कमरे में बैठा हुआ खर्च का हिसाब लिख रहा था। इतने में रहमत सलाम करके एक ओर खड़ा हो गया।

पहले तो मैं उसे पहचान ही न सका। उसके पास न तो झोली थी और न चेहरे पर पहले जैसी खुशी। अंत में उसकी ओर ध्यान से देखकर पहचाना कि यह रहमत है।

मैंने पूछा, 'क्यों रहमत, कब आए?'

'कल ही शाम को जेल से छूटा हूं।' उसने बताया।

मैंने उससे कहा, 'आज हमारे घर में एक जरूरी काम है, मैं उसमें लगा हुआ हूं। आज तुम जाओ, फिर आना।'

वह उदास होकर जाने लगा। पर दरवाजे के पास रुककर बोला, 'जरा बच्ची को नहीं देख सकता?'

शायद उसे विश्वास था मिनी अब तक वैसी ही बच्ची बनी है। वह अब भी पहले की तरह 'काबुलीवाले, ओ काबुलीवाले' चिल्लाती हुई दौड़ी चली आएगी। उन दोनों की उस पुरानी हंसी और बातचीत में किसी तरह की रुकावट न होगी। मैंने कहा, 'आज घर में बहुत काम है। आज उससे मिलना न हो सकेगा।'

वह कुछ उदास हो गया और सलाम करके दरवाजे से बाहर निकल गया।

मैं सोच ही रहा था कि उसे वापस बुलाऊं। इतने में वह स्वयं ही लौट आया और बोला, 'यह थोड़ी-सी मेवा बच्ची के लिए आया था। उसको दे दीजिएगा।'

मैंने उसे पैसे देने चाहे पर उसने कहा, 'आपकी बहुत मेहरबानी है—बाबू साहब, पैसे रहने दीजिए।' फिर जरा ठहरकर बोला, 'आपकी जैसी मेरे भी एक

बेटी है। मैं उसकी याद कर-करके आपकी बच्ची के लिए थोड़ी-सी मेवा ले आया करता हूं। मैं यहां सौदा बेचने नहीं आता।'

उसने अपने कुरते की जेब में हाथ डालकर कागज का एक टुकड़ा निकाला। देखा कि कागज पर छोटे-से हाथ के नन्हे-से पंजे की छाप है। हाथ में थोड़ी-सी कालिख लगाकर कागज पर उसकी छाप ले ली गई है। अपनी बेटी की इस याद को छाती से लगाकर रहमत हर साल कलकत्ते के गली-कूचे में सौदा बेचने आता है।

देखकर मेरी आंखें भर आईं। सब-कुछ भूलकर मैंने उसी समय मिनी को बाहर बुलाया। विवाह की पूरी पोशाक और गहने पहने मिनी शरम से सिकुड़ी मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

उसे देखकर रहमत काबुली पहले तो सकपका गया। उससे पहले जैसी बातचीत करते न बना। बाद में वह हंसता हुआ बोला, 'लल्ली, सास के घर जा रही है क्या?'

मिनी अब सास का अर्थ समझती थी। मारे शरम के उसका मुंह लाल हो उठा।

मिनी के चले जाने पर गहरी सांस भरकर रहमत वहीं जमीन पर बैठ गया। उसकी समझ में यह बात एकाएक स्पष्ट हो उठी कि उसकी बेटी भी इतने दिनों में बड़ी हो गई होगी। इन आठ वर्षों में उसका क्या हुआ, कौन जाने? वह उसकी याद में खो गया।

मैंने कुछ रुपए निकालकर उसके हाथ में रख दिए और कहा, 'रहमत तुम अपनी बेटी के पास देश चले जाओ।' ❖

सत्त्वहीन को सहारा कौन दे?

एक चोर चोरी करने के लिए राजमहल में गया। जब वह सामान चुराकर लौटने लगा तो प्रहरी को पता लग गया। उसने शोर मचाया। पुलिस की एक टुकड़ी ने चोर का पीछा किया। चोर प्राण हथेली पर लेकर दौड़ा। दौड़ते-दौड़ते शहर से बाहर उसने देवी का एक मंदिर देखा। मंदिर का दरवाजा खुला था। वह भीतर घुस गया और देवी की प्रतिमा के आगे खड़ा हो, हाथ जोड़ प्राणों की भीख मांगने लगा। संयोग की बात, देवी प्रकट होकर बोली—'कौन हो? क्या चाहिए?' चोर गिड़गिड़ाता हुआ बोला—'मां! पीछे पुलिस आ रही है, रक्षा करो।'

कहा जाता है कि देवी का दिल द्रवित हो गया। उसने कहा—'डरो मत, पुलिस का मुकाबला करो।' चोर ने कहा—'मां! मुकाबला करने की शक्ति नहीं है।' देवी ने कहा—'मुकाबला न कर सको तो थोड़ी देर के लिए जोर से हो-हल्ला करो। आने वाले डरकर भाग जाएंगे।' चोर ने कहा—'मां! होंठ चिपक रहे हैं, बोला नहीं जाता।' देवी ने परामर्श दिया—'अच्छा, तुम कपाट बंद कर लो।' चोर के शरीर में कंपन शुरू हो गया। वह बोला—'मां! हाथ काम नहीं करते, कपाट कैसे बंद करूं?' देवी बोली—'कपाट भी नहीं बंद कर सकते तो मेरी प्रतिमा के पीछे आकर खड़े हो जाओ।' चोर बोला—'मां! पांवों की शक्ति चुक गई है। मैं वहां नहीं जा सकता।'

देवी चोर की बातों से झल्ला उठी। वह दो टूक उत्तर देते हुए बोली—'जो व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता, उस सत्त्वहीन नपुंसक की रक्षा मैं नहीं करूंगी।' देवी के इतना कहते ही पुलिस के जवान मंदिर में घुस गए और चोर को हथकड़ियां पहनाकर ले गए।

मुफ्तखोर आदमी कभी भी अपना भला नहीं कर सकता।

—आचार्य तुलसी

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

संबोधन अलंकरण समारोह

पचपदरा, बाड़मेर (राजस्थान), दिनांक 17 फरवरी, 2002

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से समाज के वरिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं को उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं का मूल्यांकन करते हुए विशेष संबोधन से संबोधित किया जाता रहा है। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ऐसे सभी विशिष्टजनों को मर्यादा महोत्सव के अवसर पर प्रतिवर्ष इसी आधार पर अलंकरण अर्पित करती रही है। इस वर्ष भी पचपदरा, बाड़मेर (राजस्थान) में आयोजित मर्यादा महोत्सव के अवसर पर 17 फरवरी, 2002 को महासभा की ओर से 'संबोधन अलंकरण' समारोह आयोजित हो रहा है। इस समारोह में निम्नोक्त महानुभावों को सम्मानित किया जाएगा। समारोह में पधारने के लिए संबद्ध सभी विशिष्टजनों अथवा उनके निकटतम परिवारजनों से अनुरोध किया गया है, फिर भी पुनः अनुरोध है कि सभी संबद्ध महानुभाव समारोह में पधारने की कृपा करें, ताकि महासभा ससम्मान उन्हें 'संबोधन अलंकरण' अर्पित कर सके—

क्र.सं.	नाम	स्थान	अलंकरण
1.	श्रीमती सूरजदेवी बैंगानी	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
2.	श्रीमती सुन्दरदेवी पगारिया	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
3.	श्रीमती भंवरीदेवी चोरड़िया	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
4.	श्रीमती केसरदेवी दफ्तरी	पटियाला	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
5.	श्रीमती शकुंतलादेवी जैन	हिसार	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
6.	श्रीमती शान्तिदेवी चोरड़िया	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
7.	श्रीमती केशरोदेवी जैन	धुरी	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
8.	स्व. श्रीमती गिन्नीदेवी पटावरी धर्मपत्नी श्री हनुमानमलजी पटावरी	मोमासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
9.	स्व. श्रीमती मनोहरीदेवी बोथरा धर्मपत्नी स्व. श्री मेघराजजी बोथरा	लूनकरणसर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
10.	स्व. श्रीमती शोभानदेवी सुराणा धर्मपत्नी स्व. श्री लूणकरणजी सुराणा	बीकानेर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
11.	श्रीमती सुन्दरदेवी बैद धर्मपत्नी स्व. श्री कुशालचन्दजी बैद	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
12.	स्व. श्रीमती जेतलदेवी मरोठी धर्मपत्नी स्व. श्री श्रीचन्दजी मरोठी	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
13.	स्व. श्रीमती सुन्दरदेवी हीरावत धर्मपत्नी स्व. श्री सोहनलालजी हीरावत	चूरू	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

क्र.सं.	नाम	स्थान	अलंकरण
14.	श्रीमती धापीदेवी संचेती धर्मपत्नी स्व. श्री करणीदानजी संचेती	भीनासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
15.	स्व. श्रीमती मखुदेवी लूणिया	चाड़वास	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
16.	श्रीमती रतनीदेवी रांका	चाड़वास	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
17.	श्रीमती पानादेवी नाहटा धर्मपत्नी श्री हनुमानमलजी नाहटा	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
18.	स्व. श्रीमती जंवरीदेवी मणोत धर्मपत्नी श्री कानमलजी मणोत	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
19.	श्रीमती लाधूदेवी गांधी	सरदारशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
20.	श्रीमती जेठीदेवी आंचलिया	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
21.	श्रीमती सायरदेवी चोरड़िया	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
22.	श्रीमती भंवरीदेवी बांठिया	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
23.	श्रीमती माणकदेवी सेठिया	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
24.	श्रीमती मटकूदेवी सेखानी	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
25.	श्रीमती कंचनदेवी बैंगानी	बीदासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
26.	श्रीमती पेमादेवी सेठिया	कुम्भकोणम्	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
27.	श्रीमती तेजीदेवी सुराना	औरंगाबाद	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
28.	श्रीमती माणकदेवी बरमेचा	लाडनूं	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
29.	श्रीमती रतनीदेवी संचेती	मोमासर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
30.	स्व. श्रीमती सुआदेवी ओसतवाल	बालोतरा	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
31.	श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन	भवानीगढ़	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
32.	स्व. श्रीमती मैनाबाई डागा	कंटालिया/चैन्नई	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
33.	स्व. श्रीमती फूला बहन	गंगाशहर	श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
34.	श्री धूड़चन्दजी सिंघी	गंगाशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
35.	श्री पन्नालालजी जैन	मिर्जापुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
36.	स्व. श्री बालचन्दजी डागा	गंगाशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
37.	स्व. श्री भंवरलालजी धोका	कांजीवरम	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
38.	स्व. श्री घीसूलालजी परमार	मगरतलाब (मारवाड़)	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
39.	स्व. श्री विजयसिंहजी पोखरणा	मेवाड़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
40.	स्व. श्री हनुमानमलजी पटावरी	मोमासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
41.	स्व. श्री देवचन्दजी पुगलिया पुत्र स्व. श्री भैरूंदानजी पुगलिया	गंगाशहर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक

क्र.सं.	नाम	स्थान	अलंकरण
42.	स्व. श्री बजरंगलालजी जैन	हांसी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
43.	स्व. श्री विजयलालजी कांठेड़	पडासोली आसीन्द	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
44.	स्व. श्री रामलालजी चोरड़िया	आमेट	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
45.	स्व. श्री चौथमलजी बोथरा	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
46.	श्री मोहनलालजी दूगड़	चाड़वास	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
47.	स्व. श्री सूरजमलजी भंडारी	चाड़वास	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
48.	स्व. श्री तोलारामजी बच्छावत	चाड़वास	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
49.	श्री हनुमानमलजी नाहटा	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
50.	स्व. श्री चंपकमलजी भण्डारी	जोधपुर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
51.	स्व. श्री खुशीलालजी दक	मुंबई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
52.	स्व. श्री पन्नालालजी गोलछा	बीदासर/धुबड़ी	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
53.	श्री सत्यप्रकाशजी गोयल	लुधियाना	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
54.	स्व. श्री नेमीचन्दजी चौपड़ा	पचपदरा	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
55.	स्व. श्री दीपचन्दजी बोथरा	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
56.	श्री जसकरणजी बैंगानी	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
57.	स्व. श्री बख्तावरमलजी कोठारी	अहमदाबाद	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
58.	स्व. श्री हंसराजजी फूलफगर	चैन्नई	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
59.	स्व. श्री सीतारामजी सेठिया	फतेहपुर/नौगांव	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
60.	श्री हुलासचन्दजी गोलछा	काठमांडो	शासनसेवी
61.	श्री मूलचन्दजी बोथरा	बीकानेर	शासनसेवी
62.	श्री भंवरलालजी बैद	सरदारशहर	शासनसेवी
63.	श्री गुलाबचन्दजी चंडालिया	राजलदेसर	शासनसेवी
64.	श्री देवीचन्दजी बोहरा	कोयम्बटूर	शासनसेवी
65.	श्री पन्नालालजी बांठिया	जयपुर	शासनसेवी
66.	श्री जेसराजजी सेखानी	बीदासर	शासनसेवी
67.	स्व. श्रीमती मथुराबाई पोकरणा धर्मपत्नी श्री धर्मचन्द पोकरणा	देवगढ़ मदारिया	श्रद्धाशील श्राविका
68.	स्व. श्री राजेन्द्रप्रसाद जैन	हिसार	श्रावकोत्तम
69.	स्व. श्री सोहनलालजी धोका	पाली	सेवाभावी श्रावक
70.	स्व. श्री अनराजजी कोठारी	रीछेड़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
71.	श्री भीक्खूरामजी जैन	टीटलागढ़	श्रद्धानिष्ठ श्रावक
72.	श्री धनराजजी बैंगानी	बीदासर	श्रद्धानिष्ठ श्रावक

❖❖

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के अक्टूबर, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के अक्टूबर अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 मार्च, 2002 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम मार्च, 2002 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

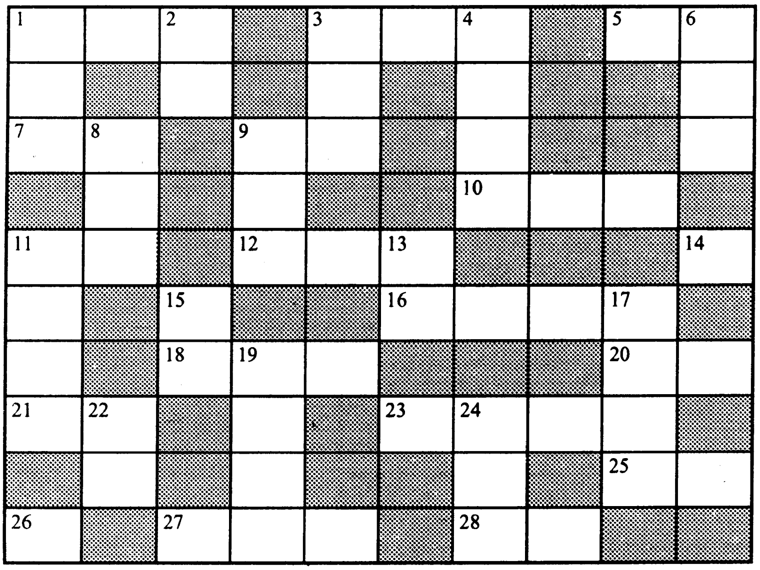

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0023

नाम प्रतियोगी...उम्र............

पूरा पता..

....

....

बाएं से दाएं

1. पशुओं का समाज नहीं होता उनका समूह...... [3]
3. जिस प्रकार एक......, जो लालमणि [3]
5. सहयोग का......रखना आसान नहीं [2]
7. ......नहीं चाहता। जो पुण्य-कार्य [2]
9. एक पैर तांगे के......पर रखकर [2]
10. एक सौ पच्चीस मुद्राएं लेकर वह...... [3]
11. इस संदर्भ में......ओलिवर लॉज [2]
12. जैन......में ये दोनों ही तत्त्व [3]
16. जिसकी......करते लोग [4]
18. स्वर्ग के महाद्वार की......से नियति [3]
20. ......अग्नि का शस्त्र है [2]
21. अनेक दुर्घटनाएं अपने आप......जाती हैं [2]
23. मां......रात नहीं घिरने देगी [4]
25. सभ्यताएं......भले हो जाएं [2]
27. फिर दस......इस बात पर ध्यान [3]
28. उनके बदलने का पता......जाता [2]

1. इस......हम भारतवासियों को यह सोचना [3]
2. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे......सए [2]
3. तीसरे के बाद चौथा......आगे बढ़ [3]
4. ......समस्त वैदिक भारतीय दर्शनों में [4]
6. सावधानी और सजगता से......लगता [3]
8. एक परात्पर रूप जिसमें वह......से परे [3]
9. भाटिया और जितेन्द्र के बीच......होने [3]
11. और......उठाकर अपने गले से लटका [4]
13. या जनतंत्र जो......-मन से अलग सिर्फ [2]
14. भंते! जीवे......जणयइ [1]
15. अपनी ऊंची नौकरी और......छोड़कर [2]
17. वर्तमान चिकित्सा में......, योगनिद्रा जैसी [4]
19. आचार्य हरिभद्र से आचार्य...... [4]
22. ......-तप तथा विगय वर्जन [2]
24. भाटिया ने हमें, हस्ब-......, खाने वाले [3]
26. और कोसों तक वसंत देती है...... [1]

जैन भारती पाठक पहेली - 0021

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 स	र	का	2 र		3 अ		4 ए	5 व	
मी			6 सा	पे	क्ष	7 ता		8 प	र्व
प			य		9 म	त	10 दा	न	
11 ता	प	12 मा	न				वा		13 ज्ञा
		लू		14 मा	न	15 व		16 दा	न
17 स	क्ष	म		र		की			
हे				18 क	म	ल		19 स	
20 ज	21 ल		22 त	र			23 म	ह	24 ल
	क		ड़		25 जी	26 व	न		ह
27 गं	वा	र	प	न		ध		28 शे	र

प्रथम चयनित विजेता—हरीश जैन, सूरत

अन्य दस चयनित विजेता

1. भाग्यवन्ती चौपड़ा, पचपदरा
2. चन्द्रा जे. ओसतवाल, बैंगलोर
3. नीतूदेवी दूगड़, विजयनगरम्
4. राजकुमार भण्डारी, तिरुपुर
5. कमलेशकुमार बम्ब, सूरत
6. झुमादेवी डागा, विजयनगरम्
7. ममताकुमारी पालगोला, टापरा
8. मीना दरला, गुडीयातम्
9. गुलाबदेवी सुखाणी, फारबिसगंज
10. नरपत लोढ़ा, सूरत

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

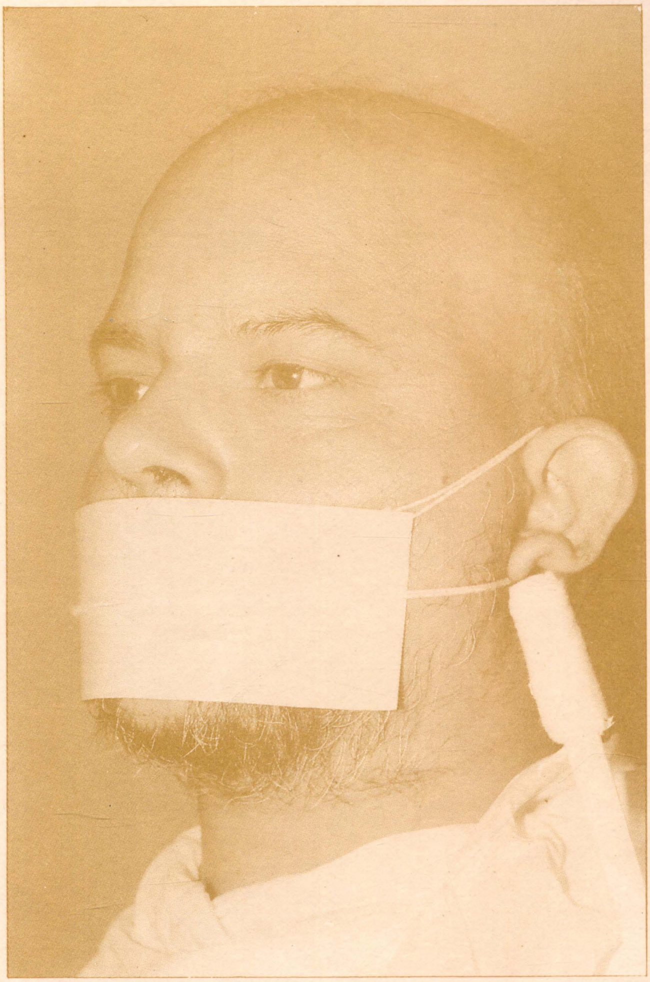

हेमराज श्यामसुखा

विनीत टेक्सफेब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, जनवरी, 2002 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

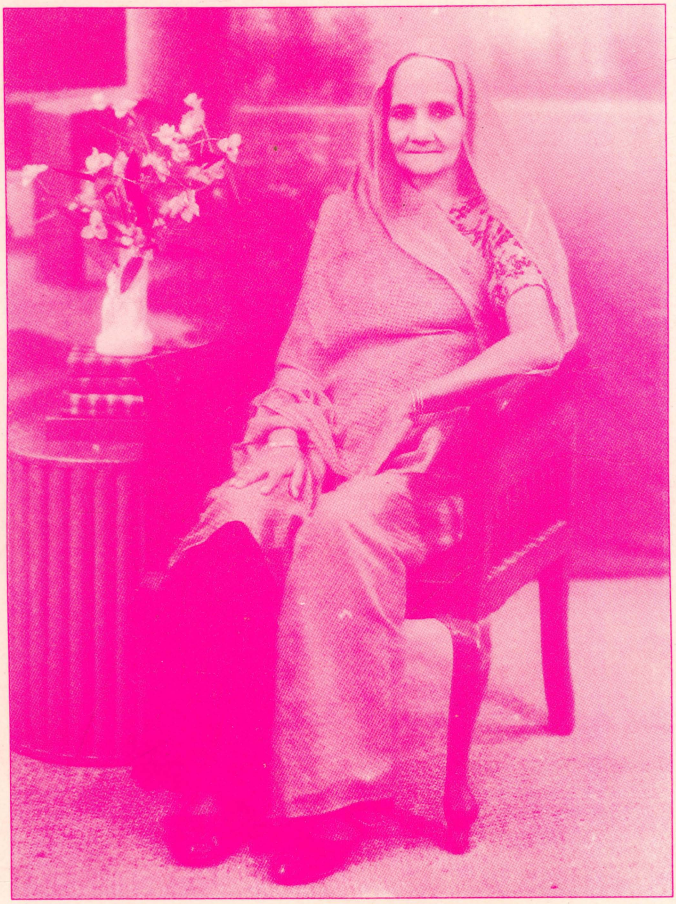

श्रीमती मनोहरी देवी बैद
जन्म : 21 जून, 1903 स्वर्गवास : 21 मार्च, 1975

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, Rourkela 769004
Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।